चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष **16** अंक **2** अक्टूबर–दिसम्बर **2018**

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आरथा भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रूपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रूपए
विदेशों में	$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रूपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रूपए
विदेशों में	$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रूपए
अन्दर कवर	15,000.00 रूपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रूपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए केन्द्रयी हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती
रजिस्टर्ड कार्यालय :
27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :
3/801 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096
से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati1@gmail.com
वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य 5

1. सांस्कृतिक ऋणबोध का अनूठा सबक : नैबन्धिक कृतित्व 7
रमेशचंद्र शाह

2. गाँधी विचार पाठ्यक्रम संरचना 18
डी.एन. प्रसाद

3. मॉरिशस की हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' (1935-38)
जिसका लोकार्पण विश्व हिन्दी सम्मेलन में हुआ 23
कमल किशोर गोयनका

4. वैदिक संस्कृति से प्रभावित—प्राचीन ब्रिटेन में सूर्य उपासना एवं
उसी से संबद्ध बेल-फायर उत्सव 37
राजीव रंजन उपाध्याय

5. देवनागरी वर्णमाला का अक्षर दर्शन 53
नंदलाल मेहता वागीश

6. बिरसा आन्दोलन : पृष्ठभूमि और विकास 60
रामनिरंजन परिमलेन्दु

7. श्री अरविन्द दर्शन और मानवता 66
किशोरी लाल व्यास

8. डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा : एक बहुआयामी व्यक्तित्व 74
मनोज कुमार अम्बष्ट

9. भारतीय परम्पराओं में वृक्ष-पूजा 82
शंकर लाल माहेश्वरी

10. पर्यावरण : एक मानवीय दृष्टिकोण 86
रिंकी

11. कर्तव्य 91
चम्पा नुनिया

12. नववर्ष की शुरुआत करें पृथ्वी को बचाने के संकल्प के साथ 95
सीताराम गुप्ता

13. असहिष्णुता के विरुद्ध 99
मृत्युंजय उपाध्याय

14. ललित निबंध 105
साहित्य के सरोकारों पर उठते सवाल
सुवंश ठाकुर 'अकेला'

15. नागालैंड का भाषा-साहित्य : स्वरूप विवेचन 110
दिनेश कुमार चौबे

16. समीक्षा 115
नीलकंठ का स्वप्न : एक स्वर वंदना का
क्रांति कनाटे

17. पुस्तक-समीक्षा 118
दिल की बात-सबके साथ : मन की बात
कृष्ण वीर सिंह सिकरवार

18. पुस्तक समीक्षा 120
रिलिजस डेमोग्राफी ऑफ इण्डिया
डॉ. लक्ष्मीनारायण मित्तल

प्राप्ति-स्वीकार 126

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

लोक लुभावन योजनाओं का छल

काँग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने धोषणा किया है कि यदि 2019 के संसदीय चुनाव में उनकी पार्टी सत्ता में आयी तो 5 करोड़ परिवारों को सरकार सालाना 72000 रुपये नगद देगी। यह मानकर कि हर परिवार में पाँच व्यक्ति होते हैं 5 करोड़ परिवारों के 25 करोड़ लोगों को इस योजना का लाभ पहुँचाने की योजना है। इस योजना का नाम न्यूनतम आय योजना (न्याय) तथा इसका लाभ 12000 रु. वार्षिक सालाना आमदनी तक के गरीब परिवारों को सीधे उनके बैंक खाते में डायरेक्ट बेनेफिट ट्रांसफर (डीबीट) द्वारा करने की बात की गयी है। फिर राहुल गांधी ने इसका नाम मनरेगा-2 भी रखा है। एक अनुमान के अनुसार इससे डेढ़ से दो प्रतिशत महँगायी एवं मुद्रा स्फिति बढ़ेगी। जैसा कि कहा गया है, इससे 25 करोड़ गरीबों को लाभ होगा; और इसमें वार्षिक 3.60 करोड़ रुपये का खर्च आने का अनुमान है, जिससे सरकार का राजकोषीय घाटा बढ़कर 5 प्रतिशत से अधिक हो जायगा। फिर सालानाबजट का आकार बढ़कर रु 27,84,200 से रु 31.44 लाख करोड़ हो जायेगा। जैसा कि कहा गया है, इसके लिए पैसा कैसे आयेगा इसकी जानकारी राहुल गांधी ने नहीं दिए; आँकड़ा संबधी काम अभी पूर्ववित्त मंत्री पी. चिदंबरम द्वारा चल ही रहा है। स्पष्टतः बिना आकड़े के घोषणा हुई है कि गरीब परिवारकितने हैं? क्या गरीब परिवारों में प्रति परिवार पाँच ही व्यक्ति हैं? किसकी आमदनी बारह हजार से कितनी कम है? आदि की जानकारी के बिना इस तरह का इतना बड़ा बायदा नहीं होना चाहिए था।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इस योजना में तीन लाख साठ हजार का खर्च आयगा। यह भारी-भरकम राशि कहाँ से आयेगी इस पर श्री गांधी ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। क्या संभव है कि कांग्रेस के सत्ता में आते ही पैसे की बौछार आ जाय, आँख मूँदकर बिना सोचे समझे, नोट छपें और बँटें। फिर अंतिम बिकल्प तो शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रक्षा में कटौती ही हो सकती है।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि इसी तरह की एक अन्य योजना का उद्घोष भी राहुल गांधी ने कर दिया है, और वह भी ट्विट करके कि सत्ता में आकर कांग्रेस नीति आयोग को खत्म कर देगी, योजना आयोग फिर बनाएगी और उसमें

जाने माने अर्थ-शास्त्रियों एवं विशेषज्ञों सहित सौ से कम लोग कार्यरत होंगे। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि श्री गांधी ने नीति आयोग की किसी कमी का उल्लेख नहीं किया है और फिर वे जिस योजना आयोग की वापसी चाहते हैं उसकेकार्य-कलाप से वे स्वयं अप्रसन्नता व्यक्त कर चुके हैं, और उसे कमजोर करने में कांग्रेस के थिंक-टैंक, राष्ट्रीय सलाहकार परिषद का हाथ तो रहा ही है। स्पष्टतः राजीव गांधी को इस तरह की हल्के फुल्के ढंग से की जानेवाली घोषणाओं से बचना चाहिए। स्पष्टतः ऐसी घोषणाएँ जनता से छल ही तो है।

— ब्रज बिहारी कुमार

सांस्कृतिक ऋणबोध का अनूठा सबक : नैबन्धिक कृतित्व

रमेशचंद्र शाह

''क्या हम भारतीय संस्कृति को इस टूटन और बिखराव से बचा सकते? हमसे अभिप्राय उन सबसे है जो अपने को इस संस्कृति का उत्तराधिकारी मानकर उसकी गौरव-गाथा तो गाते हैं, हमारा जो ऋण है, उसे चुकाने से कराते हैं...मेरे निबंधों की केंद्रीय चिंता इस प्रश्न के साथ जुड़ी है। जिस बौद्धिक अराजकता, नैतिक सनकीपन और आत्मघृणा के वातावरण में हम जी रहे हैं, उसमें यह प्रश्न प्राप्त कर लेता है। . ..मैंने यदि साहित्य की भावभूमि पर इस प्रश्न को अपनी चिंताओं के केंद्र में रखना उचित समझा तो इसलिए कि साहित्य भाषा का बद्ध सृजनात्मक क्षेत्र है, जिस पर चलकर हम अपनी स्मृति के मूलाधारों की ओर लौटते हैं।...''

निर्मल वर्मा, आदि अन्त और आरम्भ

आधुनिक सभ्यता के संकट से मानवता से उबारने के लिए केवल उन बुद्धिजीवियों की भूमिका निर्णायक होगी जो स्वयं बुद्धि को बोध और बोध को आत्मबोध के उत्तरोत्तर विकासमान सोपानों में अवस्थित कर सकें। इस दृष्टि से भारतीय परम्परा में पढ़े शिक्षकों का योगदान आनवेाली शताब्दी में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

वही, 1054

हमारा समय विश्व स्तर पर अनेकानेक सभ्यताओं और प्रवाहों के एक ऐसे सम्मिलन और संघर्ष का समय है जिसे कई मानों में अभूतपूर्व कहा जा सकता है। स्वयं भारत में यह प्रक्रिया किस तरह लगभग एक, बल्कि डेढ़ शताब्दी के दौरान उत्तरोत्तर घनीभूत होती हुई फिलहाल शायद अपने सबसे नाजुक और निर्णायक दौर में पहुँच चुकी है, उसे यथावत्—बिना किसी पूर्वग्रह्या महज़ मनमाने ढंग से सरलीकरण

रमेशचंद्र शाह : M-4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003

के—देखना-समझना और यथावत स्वायत्त करना हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक—बल्कि जीने-मरने की सरीख दुनिवार्य हो उठा है। याद आता है इतिहासकार द्वारानबी ने यूरोपीय सभ्यता के साथ रूसी और भारतीय संस्कृति की टकराहटों की तुलना करते हुए इस तथ्य को रेखांकित किया था कि रूस के लिए इस आघात के अपेक्षाकृत आसान इसलिए था कि रूस अन्ततः यूरोपीय सभ्यता का हो एक थोड़ा सुन्दरतर अंग था—अपने धार्मिक संस्कार में; जबकि भारत अपनी धार्मिक संस्कृति में यूरोप से सर्वथा और मूलतः पृथक था और इसलिए यूरोप के द्वारा उसका उपनिवेशीकरण उसके लिए मामूली आघात नहीं मर्माघात था, जिससे उबरना उसके लिए बेहद बेहद कठिन था। यह भी, कि रूसी दिमाग़ के योरोप के ही एक आविष्कार 'उपन्यास' का सर्वथा मौलिक रूसी संस्करण करके उसके जरिये संत्रास को, अपने अन्तर्द्वंद्व को हल करने का बड़ा कारग़र उपाय खोज निकाला था; जबकि औषधि भारत के लिए यह 'सेफ्टी वाल्व' उस तरह सुलभ नहीं था; और अगर मान भी लें कि किसी सीमा तक वह काम दे भी सकता था तो भारतीय मनीषा उसे उतने मौलिक और रूपान्तरकारी स्तर पर परीक्षण और आत्म-साक्षात्कार का माध्यम नहीं मना सकी। अर्थात् अपने सर्जकों और विचारकों के माध्यम से—कैसे, किस प्रकार करती है। इन आत्मकेन्द्रों में साहित्यकारों और विचारकों के अतिरिक्त इस क्षेत्र के बुद्धिजीवी शामिल होते हैं। हमारे यहाँ मगर इन बुद्धिजीवियों की भूमिका नगण्य रही है, बल्कि ग़ैरज़िम्मेदार और कुछ मायनों में संदग्धि भी। उनकी उपस्थिति का दबाव उस तरह महसूस ही नहीं किया जाता। यह इसी से जाहिर हो जाता है कि महात्मा गाँधी ने हिन्द स्वराज (1909) में अँग्रेजी पढ़े-लिखों के बारे में यह लिखा था कि उन्होंने अपने ही लोगों को ठगने में कोई क़सर नहीं छोड़ी है यह वही भारतीय भाषाओं की बेकद्री के लिए कसूरवार हैं, उन्हें चालीस बरस बाद भी (स्वाधीनता की दहलीज़ तक पहुँचने के बाद भी) अपने देश के बुद्धिजीवियों के बारे में न केवल अपनी राय बदलने की ज़रूरत नहीं थी, बल्कि उस राय को उन्होंने पहले से भी कठोर शब्दावली में व्यक्त किया (कि 'इस देश का हार्ड-हार्टेड बुद्धिजीवी मेरे लिए लम्बा दुःस्वप्न रहा और आनेवाले दिनों में भी वह दुःस्वप्न बना ही रहने वाला है।) निर्मलजी इस बिडम्बना के प्रति अत्यधिक सचेत रहे—यह उनके लेखकत्व की एक अतिरिक्त, हालाँकि बहुत बुनियादी विशेषता थी। वे बुद्धिजीवी की पश्चिमी अवधारणा के ही नहीं, आधुनिक युग में वहाँ के बुद्धिजीवियों के घोर आत्म-विभाजन और आत्मग्लानिकरी आचरण के भी कठोर आलोचक थे और, इस कारण भी वे भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका को उसकी अपनी सर्वथा भिन्न और पुरुषार्थ केन्द्रित सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते हुए परिभाषित करना और चरितार्थ होते हुए देखना चाहते थे। उचित होगा कि निर्मजी के इस विवेक को हम उन्हीं की शब्दावली में सुनें। 'एक भारतीय बुद्धिजीवनी की भूमिकाएँ शीर्षक अपने महत्त्वपूर्ण

निबन्ध में पाश्चात्य बुद्धिजीवियों की अनर्थकारी भूमिका को दर्शाते हुए वहाँ भी कुछ विरल उजले उदाहरणों को वे किस तरह रेखांकित करते हैं और किस तरह उन्हें भारतीय संदर्भ से जोड़ते हैं, इस पर ध्यान दें :

आज बीसवीं शती के अन्त में जब हम पीछे की समस्त क्रांतियों के खंडहर देखते हैं तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनके पीछे बौद्धिकों की विशिष्ट भूमिका रही है, जिन्होंने मनुष्य की स्वतंत्र मेधा को नकारकर उसे अपने सैद्धांतिक विचारात्मक चौखटे में ढालने का प्रयास किया था। दॉस्तॉएवस्की के उपन्यास 'द डेविल्ज़' में बुद्धिजीवियों के इस पैशाचिक पक्ष का बड़ा मर्मान्तक विवरण दिया गया है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं पश्चिम में ऐसे चिंतक हुए, दॉस्ताएवश्की, टॉलस्टॉय, प्रिंस क्रोघटिन और स्वयं हमारे समय में जॉर्ज ऑरवेल, अब्बेरकाम्यू और शिमोन वेत आदि—जिन्होंने बुद्धि के इस एकांगी, अमानुसिक प्रयोग का तीव्र विरोध किया था.. .यह ऐसा बिन्दु था, जहाँ स्वयं बुद्धि के विरोध में यूरोपीय बुद्धिजीवी अपने को उन भारतीय चिन्तकों के अधिक निकट पाते हैं—विवेकानंद, गाँधी, श्री अरविन्द—जो बुद्धिजीवी न होकर भी बौद्धिक अन्तर्दृष्टियों को ही अपने तर्क का माध्यम मानते थे। और तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि —कि जहाँ बुद्धि आत्मबोध की ओर नहीं ले जाती, वहाँ समाज में स्वयं बुद्धिजीवी की भूमिका संदिग्ध बन जाती है।''

यहीं से—इसी तुलनात्मक विवेक को आगे बढ़ाते हुए निर्मल जी अपनी उस महत्त्वपूर्ण प्रतीति तक पहुँचते हैं जिसे हमने प्रस्तुत आलेख के शीर्ष पर ही उद्धरण क्रमांक दो के रूप में टाँका है। निर्मजी का सोच-विचार भी उनकी कथा-सृष्टि के पीछे की प्रेरणा की ही तरह रामदीप्त और इसीलिए रागोत्तीर्ण सोच-विचार होता है, कोरा तर्कचातुर्य या बुद्धिविलास नहीं। वे अपने निबन्धों और कहानियों के बीच कोई फाँक नहीं देखते। उसी निबंध में—जिसमें उन्होंने 'ऋणशोध' की बात उठाई है (देखें उ. क्र. एक) —वे कहते हैं :

हर साहित्यिक रचना हमारे भीतर के दरवाजों को खोल देती है, जिनकी चौखट के पीछे न जाने कितने पूर्वजों की स्मृतियाँ कान लगाए खड़ी रहती हैं, ताकि वे अपने को दुबारा से हमारे शब्दों में सुन सकें। इसीलिए मैं अपने निबन्धों और कहानियों में किसी तरह की फाँक नहीं देखता। दोनों की तृष्णाएँ भले ही अलग-अलग हों, शब्दों, के लिए जलाशय से वे अपनी प्यास बुझाते हैं, वह एक ही हैं। निबन्ध मेरी कहानियों में किसी तरह की फाँक नहीं देखता। दोनों की तृष्णाएँ भले ही अलग-अलग हों, शब्दों के लिए जलाशय से वे अपनी प्यास बुझाते हैं, वह एक ही हैं। निबन्ध मेरी कहानियों के हाशिए पर नहीं, उनके भीतर के रिक्त स्थानों से भरते हैं जहाँ मेरी आकांक्षाएँ होती हैं।

निर्मल वर्मा का गद्य अपने उस युग के कारण जिसे हमने रागोत्तीर्ण रागदीप्ति कहा है अपने समकालीनों और परवर्तकों के बीच अलग अपनी पहचान बनाता है।

साथ ही उसमें साच बोलने—और हमारे परिवेश में देखते हुए काफी कड़वा और असुविधाजनक सच बोलने का नैतिक साहस भी बराबर प्रगट होता रहा है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि उनके विचार का जोखम और कला का जोखम लगभग एक ही है। 'धर्म और धर्मनिरपेक्षता' शीर्षक निबन्ध ही पढ़ देखें : हिन्दी के अन्य किस वर्तमान लेखक ने इस समस्या को लेकर इतनी साफ दो टूक और इतनी सुसंगत-सटीक बात की है? धर्म की भारतीय समझ से धर्म की एक दूसरी अवधारणा को अलगाते हुए यहाँ लेखक कहता है कि यह इसी अवधारणा अपनी वैधता किसी मसीहा का वाणी पर किसी विशिष्ट पुस्तक के वचनों से प्राप्त करती है, उस पर न संदेह प्रकट किया जा सकता है, न चुनौती दी जा सकती है, वह अपने इर्द-गिर्द सार्वभौमिक सत्य का एक दायरा खींच लेती है जिसके बाहर के लोग 'अन्य' की श्रेणी में आते हैं। ऐसे अन्य जो ईश्वररूपा के लिए सर्वथा अपात्र हैं और तभी पात्र हो सकते हैं जब वे अच्छा धर्म-परिवर्तन करने को प्रस्तुत हों। प्रश्न तब यह होगा कि धर्म के बारे में हमारी अवधारणा क्या है जिसके प्रति हम निरपेक्ष होना चाहते हैं? बिना इस प्रश्न का सामना किये बिना, अलग उत्तर दिये बिना का क्या मतलब है? निर्मल जी के ही शब्दों में, कहना न होगा कि पिछले पचास वर्षों में धर्मनिरपेक्षता या सेक्यूलरिज्म का सम्बन्ध धर्म की इस दूसरी अवधारणा से जुड़ा था। उस अवधारणा से नहीं जो भारतीय सभ्यता के केन्द्र में थी। ...भारतीय सभ्यता में मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य और उसकी दुनिया एक-दूसरे से अलग नहीं थी, वहाँ मनुष्य का जीवन सेक्यूलर और धार्मिक खंडों में विभाजित नहीं था, इस तरह का विभाजन ही वहाँ कृत्रिम और अर्थहीन था। इस विभाजन के कारण ही मनुष्य का सम्पूर्णता-बोध और प्रकृति की पवित्रता दोनों दूषित होते हैं। ...यह एक ऐतिहासिक बिडम्बना ही मानी जाएगी कि हमारे सत्तालिप्स शासकों ने स्वतंत्रता के बाद भारतीय जनसाधारण से एक ऐसे धर्म से निरपेक्ष होने के लिए बाध्य किया जिसका उनसे कोई लेन-देन नहीं था और इस प्रक्रिया में उन्हें एक ऐसी सेक्यूलर समाज-व्यवस्था में रहने के लिए विवश किया जहाँ स्वयं उनकी धार्मिक आस्थाएँ एक हाशिये की चीज़ बनकर रह गई। धर्मनिरपेक्षता इस अर्थ में एक भारतीय के लिए आत्मनिर्वासन की अवस्था बनकर रह गई।

निश्चय ही ऐसे बुद्धिजीवी अनेक होंगे जो स्वातंत्र्योत्तर भारत की इस ऐतिहासिक बिडम्बना को मन ही मन महसूस करते होंगे। परंतु उसे इतनी स्पष्टता के साथ रेखांकित करने वाले लेखक अपनी लेखक बिरादरी में अतिविरल ही कहे जाएँगे। जिस ऋणशोध की बात निर्मलजी ने उठाई थी—उसका एक अनिवार्य पक्ष यह स्पष्टवादिता और नैतिक साहस भी है जो उन्हें निराला और अज्ञेय की नैतिक साहस भी है जो उन्हें निराला और अज्ञेय की परम्परा को आगे बढ़ाने की सामर्थ्य प्रदर्शित करने वाला लेखक बनाता है। कहना न होगा कि इस नैतिक और बौद्धिक अन्तर्निष्ठा की कसौटी

पर कई बार अन्यथा अच्छे-खासे और तेज़तर्रार लेखकगण भी खरे उतरने में असम साबित हुए हैं। बल्कि उनमें से कइयों को तो अपने प्रमाद और स्खलन का अपराध बोध भी सताता नहीं लगता; उल्टे, वे अपनी आत्म-प्रवंचना का भी उत्सव मनाते नज़र आते हैं। निर्मल वर्मा के निबन्ध हमारे साहित्यिक-सांस्कृतिक पर्यावरण में निर्बाध घुस-पैठ कर रहे अर्द्धसत्यों को इसी तरह अपने सांस्कृतिक विवेक की तीखी रोशनी में उघाड़ते रहे हैं। उदाहरण के लिए उनके 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ' शीर्षक निबन्ध को ही है, जिसे उन्होंने एक उपशीर्षक भी दिया है : 'स्वतंत्रता के पचास बरस बाद'। यहाँ अपनी इस दृढ़ प्रतीति को जतलाते हुए, कि 'देशप्रेम एक चिरन्तन घटना है, हर पीढ़ी की आत्मा में एक नए सिरे से घटती हुई' —निर्मलजी अपने सुन्दर बचपन में घटित उस 'क्षण' की याद की याद करते हैं, जब किसी रेल-यात्रा के दौरान एक पुल पर से गुजरते हुए उनकी माँ ने उन्हें सोते से जगाकर उनके हाथ में कुछ सिक्के रखते हुए उन्हें नीचे नदी में फेंक देने को कहा था। निर्मलजी के ही शब्दों में :

यह मेरे लिये अपने देश 'भारत' की पहली छवि थी जो मेरी स्मृति में टँगी रह गई है... वह शाम, वह पुल, पुल के परे रेत के ढूह, और वह डूबता सूरज और एक अनाम नदी... मुझे लगता है अपने देश के साथ मेरा प्रेम-प्रसंग यहीं से शुरू हुआ था...उत्पीड़ित, उन्मादपूर्व, कभी-कभी बेहद, निराशापूर्ण; ... बाद के वर्षों में मेरे एक ऐसी संस्कृति में पल्लवित होती है, जहाँ 'स्पेस' और 'स्मृति' अन्तर्गुम्फित हो सकें। मनुष्य और पशु के सम्बन्ध की बात तो अलग रही, उन चीज़ों का परस्पर सम्बन्ध भी बहुत बरम हो, तो ऊपर से सजीवन्त दिखाई देतें...पत्थर, नदी, पहाड़, पेड़... किंतु अपने अन्तर्सम्बन्धों में वे एक जीवन्त पवित्रता का गौरव, एक तरह की धार्मिक संवेदना ग्रहण कर लेते हैं। यह क्या गहन संयोग था कि हमारे यहाँ प्रकृति के इस आत्मीय उपकरणों के प्रति लगाव से देशभक्ति की भावना को जन्म दिया, जो राष्ट्र की सेम्यलर और संकीर्ण अवधारणा से बहुत भिन्न था?

यह है निर्मल वर्मा के 'ऋणशोध; की अन्तर्कथा और अन्तःप्रक्रिया, जो उनके दूसरे की तमाम निबन्धों में झलकती देखी जा सकती है। देश और देश प्रेम की यह निर्मल अनुभूति एवं अवधारणा किसी भी तरह के संघर्ष राष्ट्रवाद से किस क़दर अछूती और सार्वभौम अनुगूँजों वाली है, यह इसी से ज़ाहिर हो जाता है कि उक्त वृत्तान्त के सिलसिले में ही आये निर्मल पुश्किन के एक पत्र को उद्धृत करते हैं जिसमें पुश्किन कहते हैं कि 'एक लेखक होने के नाते मुझे कभी-कभी अपने देश के प्रति गहरी झुँझलाहट और कटुता महसूस होती है, लेकिन मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं किसी भी कीमत पर अपना देश किसी और देश से नहीं बदलना चाहूँगा। न ही अपने देश के इतिहास को किसी दूसरे इतिहास में परिणत करना चाहूँगा, जो ईश्वर में मेरे पूर्वजों के हाथों में दिया था।' तनिक इस पत्र पर निर्मलजी की टिप्पणी देखें :

शब्द पुश्किन के हैं, अपने 'मदर रशिया' के बारे में, लेकिन उनमें देशभक्ति का एक ऐसा धार्मिक आयाम दिखाई देता है, जिसमें हमें विवेकानन्द, श्री अरविन्द और गाँधी की भावनाएँ प्रतिध्वनित होती सुनाई देती हैं, जो उन्होंने समय-समय पर गहरे भावोन्मेष के साथ भारत-भूमि के प्रति प्रकट की थीं।1 आज के आधुनिक भारतीय धर्मनिरपेक्षी बुद्धिजीवियों को भारत के सन्दर्भ में ईश्वर और पूर्वजों की स्मृति का उल्लेख करना कितना अजीब लगता होगा इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। और वे लोग तो 'वन्देमातरम्' जैसे गीत में भी सांप्रदायिकता सूँघ लेते हैं। सच तो यह है कि देशप्रेम की भावना को देश से जुड़ी स्मृतियों और उसके इतिहास की धूल में सनी पीड़ाओं से अलग करते ही इस भावना की गरिमा और पवित्रता नष्ट हो जाती है। वह या तो राष्ट्रवाद के संकीर्ण और कुत्सित पूर्वग्रह में बदल जाती है, अथवा आत्म-घृणा में दोनों एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं।

यह आखिरी वाक्य खासतौर पर मानवीय है, उन लोगों के लिये जो आज के सन्दर्भ में राष्ट्रवादी विचारधारा और उसके साथ जाने वाली राजनीति से जुड़े हुए हैं। उन्हें गहरे आत्ममंथन से गुजरते हुए इस विकट प्रश्न का यथातथ्य सामना करना होगा कि कैसे हमने भारतीय संस्कृति की सहस्रमुखी प्रवहमान धारा को सूख जाने दिख? और कैसे हम भूल गये कि भारत केवल एक राज्य-सत्ता नेशन स्टेट ही नहीं है—जैसी पश्चिम की अनेक राष्ट्रीय सत्ताएँ हैं... जो अपनी सीमाओं से जकड़ कर ही अपनी अस्मिता को परिभाषित कर पाती हैं। उन्हें इस तथ्य को भी भरपूर स्वीकार के साथ स्वायत्त करते हुए समझने की चेष्टा करनी होगी कि किस तरह पश्चिमी उदाहरणों के ठीक विपरीत 'शताब्दियों से हमारे देश सीमाएँ वे स्वागत दिए रहे हैं—निर्मल वर्मा के शब्दों में, 'जिनके भीतर आते ही उत्पीड़ित और त्रस्त जातियाँ, यहूदी पारसी और तिब्बती आदि) अपने को सुरक्षित पाती रही हैं।[2] उन्हें अपने ही गौरवशाली इतिहास के इस सबक को अपनी सांस्कृतिक-राष्ट्रीय दृष्टि में रखना होगा। सांस्कृतिक जड़ों की चिन्ता का क्या अर्थ है, और तर्क है, यह निर्मल वर्मा के ही शब्दों में सुनना और गुनना होगा : वे उसी निबंध वे उसी निबंध में आगे कहते हैं :

कोई राष्ट्र जब अपनी सांस्कृतिक जड़ों से उन्मूलित होने लगता हैद्व तो भले ही ऊपर से बहुत सशक्त और स्वस्थ दिखाई दे, भीतर से मुरझाने लगता है। ...स्वतंत्रता के बाद भारत के सामने यह सबसे दुर्गम चुनौती थी... पाँच हजार वर्ष पुरानी परम्परा से क्या ऐसे राष्ट्र का जन्म हो सकता है, जो अपने में 'एक' होता हुआ भी उन 'अनेक' स्रोतों से अपनी संजीवनी शक्ति खींच सके जिन्होंने भारतीय सभ्यता का रूप-गठन किया था। यह एक ऐसी सिम्फनी (Symphny) रचने की परिकल्पना थी जिसके संगीत में हर छोटे से छोटे बाद्य का स्वर संबोधित गूँजता था। जिस तरह गाँधी जी की आँख से कभी आखिरी आदमी ओझल नहीं होता था, वैसे ही... कोई परम्परा

इतनी छोटी, इतनी नगण्य नहीं थी, जिसकी आवाज़ भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा में जुड़कर अपनी विशिष्ट लय में अनुगूंजित न होती हो।

1. यह दृष्टव्य है कि हमारे स्वतंत्रता संग्राम के सशस्त्र क्रांति-चेष्टा वाले दौर में क्रांतिकारियों के लिए भक्ति का आलम्बन भारतमाता थी बल्कि स्वयं महात्मा गाँधी भी हिन्दू स्वराज में भारतीय परम्परा के प्रति अपने लगाव को, उस पर अपने दिलो दिमाग़ की निर्भरता को जिस सादे घरेलू प्रतीक से परिभाषित करते हैं, वह भी 'माँ' का ही बिम्ब है।

भारतीय संस्कृत का यह वट-वृक्ष सरीखा चरित्र निर्मलजी की दृष्टि में केवल सहिष्णुता की बात नहीं है, जहाँ अब वो अपने से अलग मानकर उसे सहन किया जाता है बल्कि इसके पीछे कहीं यह मान्यता काम करती थी कि विभिन्न विश्वासों के बीच सत्य की सत्ता समान रूप से क्रियाशील रहती है—अपने में अखंडित और अपरिवर्तनशील। निर्मल जी अनुभव करते हैं कि, 'भारतीय सभ्यता को अपनी यह अनमोल अन्तर्दृष्टि स्वयं अपनी आध्यात्मिक परम्परा से प्राप्त हुई थी 'आत्म' और 'अन्य' के बीच का भेद अवधि का लक्षण था, सत्य का नहीं।'' वे इस तथ्य को भी रेखांकित करना नहीं भूलते कि न केवल पश्चिमी इतिहासकारों, बल्कि उनके भारतीय 'सबाल्टर्न' अनुयायियों की आँखों में भी भारत की अपनी कोई सांस्कृतिक इयत्ता नहीं, वह तो सिर्फ कबीलों, जातियों, सम्प्रदायों का महज़ एक पुंज मात्र है। यदि ऐसा होता तो'' वे आगे कहते हैं, ''तो भारत सत्ता और उसके अन्तर्गत रहने वाले सांस्कृतिक समूहों की अस्मिता कब की नष्ट हो गई होती, उसी तरह जैसे अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया के आदिवासियों के साथ हुआ जिनकी संस्कृति के आज सिर्फ अवशेष दिखाई देते हैं। निर्मलजी बग़ैर किसी लगा-लपेट के, इस सत्य को स्वीकारते हैं और बलपूर्वक दोहराते हैं कि, यदि भारत का सभ्यता बोध और सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी मौजूद हैं तो उसका मुख्य कारण वह केन्द्रीय आध्यात्मिक तत्व हैं, जिसमें इतनी क्षमता और ऊर्जा थी कि इतिहास के निर्मम थपेड़ों के बावजूद वह समस्त प्रभावों को अपने भीतर समाहित कर सका।'' प्रसंगवश स्व. पं. विद्यानिवास मिश्र की कही एक बात याद आ रही है, ''हमारी ट्रेजेडी यह है कि भारत की सामाजिक संस्कृति के नाम पर भारत को मुख्यधारा को उपेक्षणीय मान लिया गया है'' निर्मल जी निश्चय ही इस ट्रेजेडी के प्रति संवेदनशील थे और जैसा कि हमने अभी-अभी उनके निबंधों के हवाले से देखा उन्होंने अपने रचनानुभव और अर्जित विवके के बल पर ही इस विडंबना को अपने ढंग से रेखांकित किया है। विद्यानिवासजी की ही एक दूसरी मर्मोक्ति भी मुझे यहाँ बरबस ध्यान में आ रही है कि ''पाश्चात्य संस्कृति को सबसे ज्यादा प्रतिरोध भारत ने ही दिया है, किन्तु उसे सबसे अधिक सहानुभूति के साथ देख-परख सकने वाले भी भारतीय ही हुए हैं।'' निर्मल वर्मा इससे भी पूरी तरह संवेदित और सहमत

होते क्योंकि वे स्वयं अपने आप में इस बात में निहित सत्य के प्रति जीते-जागते द्रष्टान्त थे। वे ध्रस्त और काफ्का सरीखे आधुनिक कृतिकारों के ही नहीं, सिमोनवेल सरीखी तेजस्वी चिंतन-समर्थ प्रतिमाओं के भी मर्म में बैठ सके थे।

भारत की स्वाधीनता के देहरी पर अज्ञेय ने 'एक आलोचक राष्ट्र के निर्माण' का जो स्वप्न देखा था, वह तो अभी तक स्थान ही बना हुआ है क्योंकि अपने ही अज्ञान में ही लिथड़ी चाल-द्रोही आलोचना का कोई मतलब नहीं होता : वह हो सर्वथा मंजर और नकारात्मक ही साबित होती है। किन्तु यदि उस स्थान में दो-चार गिनती के बुद्धिजीवी भी इस देश के सचमुच भागीदार थे तो उनमें निर्मल वर्मा का स्थान निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। यह उनकी आलोचनात्मक तेजस्विता ही थी जो उनके उपर्युक्त ऋणशोध की प्रक्रिया को – अर्थात् उनके संस्कृति-चिंतन को - उसकी विशिष्ट धार और गूँज प्रदान करती है। 'मेरे लिए भारतीय होने का अर्थ' नामक उनके जिस निबन्ध की हमने चर्चा की, उसका समान ही देख लीजिए। यह चेतावनी है उनके लिए जो, निर्मलजी के संस्कृति-चिंतन की मूल्यवता से, उसकी सकारात्मक चिंताओं से सचमुच प्रेरणा ग्रहण करना चाहते हैं।

एक अन्तिम शब्द – हमें कभी भी अपने समाज की कुरीतियों, अपने सत्ताधारी नेताओं की स्वार्थ लिप्साओं को अपने देशप्रेम में गदगद नहीं करना चाहिये। मेरे लिये, मेरा देश, मेरे राजनीतिक, सैद्धान्तिक आग्रहों से कहीं ऊपर है... या होना चाहिये। गाँधी से बड़ा भारत-प्रेमी कौन हो सकता था? लेकिन वह भारतीय समाज के सबसे बड़े आलोचक भी थे– क्योंकि जो व्यक्ति हृदय से अपने देश से प्यार करता है, उसे ही आलोचना का भी अधिकार प्राप्त होता है।

स्वभावतः निर्मल वर्मा अपने पूर्व-योरोपीय प्रवास के अनुभव, यानी चेकत्रास्दी की यादों को ही नहीं, स्वयं अपने घर के आपातकाल की नैतिक त्रासदी को भी यथावत् उकेरना नहीं भूलते। कहते हैं, ''सबसे बड़ा सबक जो अपने लेखक बुद्धिजीवी मानने वाले ऐसी दुर्घटनाओं से सीख सकते हैं, यह है कि समाज की बीमारियों को दूर करने की पहली शर्त उन्हें उनके सही नाम से पुकार सकना है।'' ...बात यह यों सुनने में बड़ी सरल लगती है, पर है नहीं। इमरजेंसी के दौरान एक से एक बड़बोले लेखकों की रीढ़हीनता का देखा-भोगा अनुभव अभी हाल की बात है। इमरजेंसी ही क्यों अपने बुद्धिजीवी वर्गों का बारम्बार देखने में आया आत्महीन आचरण यही जताता रहा है कि उपर्युक्त शर्त को निभाय कितना कठिन दुसाध्य है। इस कड़वी हकीकत को देखते हुए निर्मल वर्मा की यह चेतावनी भी अत्यन्त सामयिक और सटीक लगती है ''लेखक यदि शब्दों के पीछे निहित सत्य को अक्षुण्ण-अकलषित रखना चाहता है तो उसे उन समस्त शक्तियों से संघर्ष करना पड़ेगा जो आज के युग में भाषा को भ्रष्ट करने पर उतारू हैं। लेखक के लिए भाषा का आपातकाल कभी समाप्त नहीं होता।''

हमने इस लेख की शुरुआत मूर्तिदेवी पुरस्कार के अवसर पर निर्मल वर्मा द्वारा दिये गये वक्तव्य को उदधृत करते हुए की थी जो बड़े मार्मिक ढंग से उस ऋणशोध की प्रक्रिया को झलकाता है जो अपने सांस्कृतिक परिवेश के साथ किसी भी सच्चे सृजनधर्मी कलाकार के जीवन व्यापी सम्बन्ध को सार्थक बताता है। निर्मल जी का नैबन्धिक कृतित्व ही नहीं, उनके व्यक्तित्व के निकट सम्पर्क में आये हुए लोगों का अनुभव भी इस तथ्य का साक्षी है कि वे उन थोड़े से लेखक-बुद्धिजीवियों में थे जो आज की तारीख में हमारे चतुर्दिक व्याप्त, स्मृतिभ्रंश, नैतिक मूल्यमूढ़ता और आत्म-द्रोही प्रवृत्तियों को *उनके सही नाम से पुकारते* और उनका प्रतिकार करने का यत्न करते रहे थे।

हमने लक्ष्य किया था कि निर्मल वर्मा के गद्य में विचार का जोखम और कला को जोखक एक ही है। यदि निर्मल वर्मा के पूर्ववर्ती अज्ञेय की इस स्वीकारोक्ति का तात्पर्य ध्यान में रक्खें कि, 'मेरे चिन्तन का आयाम स्मृतियुक्त शुद्ध चिन्तन का है', तो हम हिन्दी के इस आधुनिक दौर के इन दोनों विचारशील लेखकों के योगदान को—अपनी संस्कृति के प्रति ऋणशोध की उनकी विशिष्ट गुणवत्ता को भी उसकी सही जगह रखते हुए समझ सकेंगे। अज्ञये पर हमने अलग से विस्तृत विचार किया है, यहाँ दोनों की तुलना के लिए अवकाश नहीं है। किन्तु समापन करते हुए मुझे भी तथाकथित उत्तर-आधुनिकतावादी दौर को भी अपने इस संक्षिप्त विवेचन में समेटना आवश्यक लगता है। अज्ञेय के सामने आधुनिकता का ही परिप्रेक्ष्य था, उसके इस परवर्ती दौर पर उन्होंने कोई खास प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की थी, किन्तु निर्मल वर्मा की टिप्पणी इस सम्बन्ध में ग़ौरतलब है जो उन्होंने 'आदि अन्त और आरम्भ' शीर्षक भोपाल में दिये गये व्याख्यान के सिलसिले में जुड़ी है। उत्तर आधुनिकतावाद के मुहावरे का जैसा घटाटोप इस वक्त हिन्दी में छाया हुआ है, उसे देखते हुए भी यह निबन्ध (प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में भी) माननीय है। यों अन्यत्र भी एक निबन्ध में निर्मलजी ने इस बात को बलपूर्वक दुहराया है कि, ''...यदि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध में मार्क्सवाद की सर्वग्रासी ऐतिहासिक आइडियोलोजी ने रचना के आकाश पर खुद को थोपकर उसकी स्वायत्त गरिमा को मिटाने का उपक्रम किया था तो आज तथाकथित 'थ्योरी' उस आकाश पर हावी हो रही है, जिस सृजनात्मक 'स्पेस' के भीतर ही उसका स्वतन्त्र आलोचनात्मक विवेचन संभव हो सकता था।'' ...यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि निर्मल वर्मा उक्त दोनों विडम्बनाओं से अपने समानधर्माओं को सावधान करते हैं, जिनमें से पहली तो चरम रूप से 'टोटेलिटेरियन' है, और दूसरी उतनी ही 'चरम सापेक्ष' यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि अज्ञेय ने भी अपने परवर्ती चिंतन में नैतिक सापेक्षतावाद के अनर्थ को उजागर किया था; पर आधुनिक मानस की सामान्य दार्शनिक अराजकता के संदर्भ में ही। निर्मल वर्मा ने उसे ठेठ आज के साहित्यिक-वैचारक

सन्दर्भ में उघाड़ा है। अज्ञेय को इस बात का दर्द सालता था कि , ''हमें निरन्तर इतिहास बोध की दीक्षा दी जा रही है, और उस 'अवस्थिति-बोध' के संस्कार को मिटाया जा रहा है, जो भारतीय चरित्र और भारतीय चिंतन की अद्वितीय विशेषता रही है।'' ...निर्मलजी के लिए भी, जैसाकि हमने ऊपर कई हवालों में देखा, आधुनिक युग का अभिशाप यही रहा है कि उसने स्वयं परम्परा के शाश्वत बोध को खण्डित किया है; आस्था की अभाव-घोड़ा को शून्यता के आत्महीन बोध में परिणत किया है। वे साफ़ कहते हैं इसी 'आदि अन्त और आरम्भ' शीर्षक अपने व्याख्यान में, कि ''प्रश्न आधुनिकता से छुटकारा पाने का नहीं है, बल्कि स्वयं आधुनिक बोध को उसकी ऐतिहासिकता से मुक्त करने का है। यह शून्यता-बोध बौद्ध दर्शन वाला शून्यवाद नहीं है जिसके साथ हमारे अज्ञेय सरीखे आधुनिक भारतीय लेखक-विचारक भी सहज ही पटरी बिठा सकते थे (ओ आत्मा री? कन्या भोली क्वॉरी/इस महाशून्य के साथ भावरे तेरी रची गईं...इत्यादि)। यह वह शून्यवाद नहीं, ऐसा निर्जल नकार और आत्म-रिक्त है, जहाँ मनुष्य अपने स्वत्व से ही खाली हो जाता है, जो 'सेल्फ़' उसका आधारमंच। अज्ञेय की अपेक्षा यदि निर्मल वर्मा ने इस प्रवंचना को अधिक प्रत्यक्ष और तत्काल संवेध ढंग से उजागर किया है तो वह इसीलिए कि निर्मल के सामने यह उत्तर-आधुनिक परिदृश्य भी रहा जो उस तरह अज्ञेय के लिये तात्कालिक चुनौती नहीं बन सका था। अपने इस निबन्ध का समापन मैं निर्मल वर्मा के इसी निबन्ध से एक उद्धरण देते हुए कहना चाहूँगा जिसमें वह मर्म की बात उठाइ गई है जो शायद ही कोई और उठाता और जो हम सभी के लिए—खास तौर पर उत्तर आधुनिकतावादी मुहावरे से अत्यधिक आक्रान्त लेखकों के लिए—माननीय है, क्योंकि यह उस लक्ष्यहीन बहुलता पर सीधी चोट करता है, जिसकी आत्मघाती परिणति का अहसास ही उनके यहाँ नदारद है तो, लीजिये सुनिये निर्मलजी के शब्दों में ही—वह मर्म की बात क्या है :

आज बीसवीं शती के अन्त में जब हम उत्तर आधुनिकता की बात करते हैं तो मनुष्य के आधुनिक बोध के उस आध्यात्मिक पक्ष को बिलकुल भुला देते हैं, जिसकी संभावनाएँ कभी पूर्ण रूप से यूरोप में उद्घाटित नहीं हो पाईं। *असली उत्तर-आधुनिकता वह होती जो आधुनिक मनुष्य की अधूरी, बीच में टूटी यात्रा में परम का वह अंश जोड़ पाती।* उस बीहड़ तनाव के बीच रास्ता बना पाती जो आधुनिक कला के आत्मसंघर्ष की आधारभूमि थी। यह कहने की बजाय उसने एक सुविधाजनक रास्ता अपनाया—स्वयं तनाव के केन्द्रीय भाव से आँखें मोड़ लीं। इसीलिए उत्तर आधुनिकता की विचारधारा में जो बहुलता दिखाई देती है, वह खुलापन नहीं है, ढीलापन है—विशृंखलता, जो केन्द्रहीनता से उत्पन्न होती है। आधुनिक मनुष्य के अंतर्विरोधों की पीड़ा और उनका अतिक्रमण करने का आध्यात्मिक गौरव, दोनों के प्रति वह निरपेक्ष जान पड़ती है। आत्म-विभाजित मानस में किसी भी चरण में अपने अखण्डित सम्पूर्णत्व की ओर मुड़ने

की आशा बनी रहती है। लक्ष्यहीन बहुलता की अवस्था में वह आशा भी लुप्त हो जाती है।

लक्ष्यहीन बहुलतावाद की फिलसपट्टी से प्रलुब्ध और उसकी आड़ लेकर अपनी असली प्रत्यासन्न चुनौतियों से कतराने वाले हमारे बुद्धिजीवियों के लिए निर्मल वर्मा की यह चेतावनी कितनी प्रखर और प्रासंगिक है, कहने की आवश्यकता नहीं। कितनी सटीक और स्वाभाविक लगती है—प्रस्तुत विषय के सन्दर्भ में—उनके समग्र कृतित्व में परिव्याप्त सांस्कृतिक ऋणशोध की प्रक्रिया की यह सहज परिणति! अपने लिये भारतीय होने का अर्थ खोजते हुए निर्मल वर्मा ने प्रश्न पूछा था कि क्या भारत हमारे लिए ऐसा स्वप्न नहीं रहा जो भारत के यथार्थ से कहीं अधिक मूल्यवान है? और यदि यह पिछले पचास वर्षों में इतना धुँधला पड़ गया है... तो हम जो अपने को बुद्धिजीवी कहते हैं, ...क्या अपने प्रेम की लौ से उस स्वप्न को पुनः प्रकाशमान नहीं कर सकते?

मैं समझता हूँ यह प्रश्न हममें से प्रत्येक साहित्यकर्मी से एक सकारात्मक उत्तर की मांग करने वाला प्रश्न है। जहाँ तक निर्मल वर्मा की बात है, उनके लिये उस अपने आप से ही पूछे गये प्रश्न का उत्तर निबन्ध की ही समापक पंक्ति में ही अतिध्वनित हो उठा था—"मेरी या अब नहीं है।"

गाँधी विचार पाठ्यक्रम संरचना

डी.एन. प्रसाद*

विसंगतियाँ जीवन से जुड़ी हैं, इससे बचने का प्रयास प्रत्येक को करना चाहिए, तभी शान्ति की परिकल्पना सम्भव है। गाँधी के जीवन में सम्भवतः बहुत कम विसंगतियाँ थीं, और जो कुछ भी थीं, उन्हें उन्होंने समयानुसार सुधार लिया। यहाँ प्रश्न है पाठ्यक्रम की विसंगतियों का...! स्पष्ट है पाठ्यक्रम में विसंगतियों के कारण विद्यार्थी का अध्ययन भी विसंगतियों से भरा होगा। 'पाठ्यक्रम' अपने शाब्दिक अर्थ में एक क्रम को जोड़ता है और उसमें विसंगति आने पर वह क्रम भ्रम का काम करता है। अतः पाठ्यक्रम एक क्रम से होना चाहिए।

आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम.ए. के पाठ्यक्रम के रूप में 'गाँधी विचार' का अध्ययन व अध्यापन हो रहा है। पाठ्यक्रमों में एक विचार-शृंखला का अभाव देखकर दुःख होता है। मुझे याद है प्रो. रामजी सिंह के पाठ्यक्रम-निर्माण की संघर्ष-गाथा, जब पहली बार राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर, लोकनायक जयप्रकाश नारायण व बिहार के पूर्व-राज्यपाल डॉ. ए.आर. किदवई ने गाँधी विचार में पाठ्यक्रम निर्धारित करने को कहा था। गाँधी विचार की शृंखला से कितनी-कितनी बार संघर्ष करना पड़ा था। अतः गाँधी के शृंखलाबद्ध व सुसंगत विचार ही पाठ्यक्रम के रूप में पठनीय, विचारणीय और विद्यार्थियों के भावी जीवन के लिए आचरणीय होगा, क्योंकि गाँधी-विचार एक 'कर्म' है, जिसे केवल पाठ्यक्रम में बाँधकर सैद्धान्तिक स्थिति में ही सीमित रखने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे कार्यान्वित करने की, कारण कि गाँधी विचार जीवन और कर्म के बीच कुछ सार्थक करने की प्रेरणा है।

मैंने देखा है कि गाँधी-विचार में विश्वविद्यालयों में एम.ए.प्रथम वर्ष का पाठ्यक्रम तो लगभग सही चलता है, परन्तु द्वितीय वर्ष में सभी जगह गाँधी-विचार के

* डॉ. डी.एन. प्रसाद, प्राध्यापक, गाँधी एवं शांति अध्ययन, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र) मो. 09420063301 ई-मेल : dnpsayal@yahoo.co.in

पाठ्यक्रम का खण्डन-मण्डन कर दिया जाता है, जो पाठ्यक्रम और विचार की वैचारिकता दोनों को प्रभावित करता है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इन विश्वविद्यालयों में गाँधी-विचार के पाठ्यक्रम को एकरूपता से लागू करने का अध्यादेश जारी करना चाहिए।

एम. ए. द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम में गाँधी विचार का खण्डन-मण्डन करके विषय को विषयेतर कर दिया जाता है, जिससे छात्र प्रभावित भी होते हैं। विषयेतर विशेष अध्ययन तो शोध के लिए ही सार्थक है। वैसे पाठ्यक्रम का केन्द्र-बिन्दु अगर मनुष्य निर्माण है तो गाँधी-विचार का अध्ययन, अध्यापन व पाठ्यक्रम तीनों सार्थक हैं।

पाठ्यक्रम वही क्रमबद्ध है, जिसके अध्ययन से मनुष्यता का मूल्य निर्मित हो और गाँधी विचार इसमें सक्षम है। केन्द्र सरकार व राज्य सरकार को गाँधी विचार के पाठ्यक्रम को आई.ए.एस. तथा पी.सी.एस. की परीक्षाओं में सम्मिलित कर लेना चाहिए, जिससे प्रशासनिक अधिकारियों में मूल्य विकसित हो सके, ताकि नीति नैतिक और कार्य-प्रणाली व्यावहारिक बन सके, क्योंकि आचार और विचार के निर्माण में गाँधी विचार ही व्यावहारिक रूप से सक्षम है। पाठ्यक्रम तो जीवन-निर्माण का परिपथ होता है। गाँधी-विचार के कौशल को अन्य अनुशासन में प्रयुक्त होने से नैतिक-निर्माण की सम्भावना बढ़ जाती है।

विषय विषयी न हो, विषय विषवेल न हो, किसी भी पाठ्यक्रम के निर्माण में यह ध्यान देना आवश्यक हो जाता है कि पाठ्यक्रम क्रमगत विषय के अनुसार क्रमशः हो, जिससे विद्यार्थी क्रम से विषय की विविधता को अपने स्व में समाहित करके स्वयं के निर्माण में सहायक बना सकें। किसी भी 'विषय' के 'पाठ्यक्रम' निर्माण में इस बात का स्मरण होना चाहिये कि वह विषय सम्पूर्ण रूप से उस पाठ्यक्रम में समाहित होता है या नहीं! यदि सम्पूर्ण रूप से पाठ्यक्रम में वह विषय समाहित नहीं होता है तो वह पाठ्यक्रम अधूरा अथवा अपूर्ण माना जाएगा और वह भी जब पाठ्यक्रम का विषय मास्टर डिग्री का हो। वस्तुतः सम्पूर्ण में समाहित होना ही जीवन की सार्थकता है। गाँधी विचार में एम.ए. डिग्री पाठ्यक्रम सम्पूर्ण गाँधी चिन्तन का समग्र अध्ययन है। इस समग्रता में सम्पूर्ण गाँधी चिन्तन की चर्चा अनिवार्य है। बिना इसके अध्ययन के विषय अधूरे रहेंगे।

गाँधी विचार विषय की विविधिता लिये हुए विशाल वटवृक्ष है। वटवृक्ष का अवलोकन-अध्ययन किस सिरे से किया जाए कि शून्य से सम्पूर्णता की प्राप्ति हो, यह पाठ्यक्रम-निर्माण की क्रमगतता और विषय के आयाम पर निर्भर करता है। गाँधी विचार की अन्विति में देखें तो यह सम्पूर्ण रूप से व्यक्ति-निर्माण, जीवन-निर्माण और समाज-निर्माण की त्रयी तारतम्यता पर अग्रसर हुआ है। अतः गाँधी-चिन्तन के विचार

और व्यवहार को आधार बनाकर ही पाठ्यक्रम सुसंगत बनाया जा सकता है, जिसमें प्रथमतः गाँधी का जीवन-दर्शन ही अध्ययन का विषय होना चाहिये।

गाँधी के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन में प्रथमतः किसका अध्ययन किया जाए, यह चिन्तन का विषय है। चूंकि समाज का विकास उसकी आर्थिक स्थितियों पर निर्भर करता है, तब कहीं राजनीतिक परिवेश का निर्माण सम्भव होता है। जब समाज सात्विक होगा, तभी सामाजिक राजनीति अनीति से बचेगी और नैतिक राजनीति के रूप में राजनीतिक-निर्माण संभव होगा। गाँधी चिन्तन इसी दिशा में मार्गदर्शन है, क्योंकि आर्थिक सम्पन्नता होने के बावजूद भी सामाजिक और राजनीतिक शुद्धता नहीं आयी तो वह 'अर्थ' अनर्थ हो जाता है। गाँधी का 'ट्रस्टीशिप' सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक चिन्तन और विचार का संगम है। इस दृष्टि से भी और क्रमशः सामाजिक सरोकार उत्तरोत्तर होने के हेतु भी पाठ्यक्रम में गाँधी के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन का अध्ययन-अध्यापन गाँधी विचार पाठ्यक्रम का 'फाउण्डेशन कोर्स' है। इसी क्रम में गाँधी का एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन है, उनका शैक्षिक चिन्तन। शिक्षा का अग्रगामी विकास सही दिशा में लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग तभी निर्मित करता है, जब परिवेश परिपूर्ण हो। इस पूर्णतः में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तीनों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, इस दिशा में गाँधी का शैक्षणिक चिन्तन (Learning by doing) एक महत्त्वपूर्ण चिन्तन है जो शैक्षिक मूल्य को मर्यादित करता है और जब तक शैक्षिक मूल्य मर्यादित नहीं होगा, सामाजिक मूल्य का विघटन होता रहेगा। इसलिए गाँधी के शैक्षिक विचार और चिन्तन का गाँधी-विचार पाठ्यक्रम में होना एक महत्त्वपूर्ण इकाई की पूर्ति करता है।

गाँधी-चिन्तन के विभिन्न आयामों में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग या स्वयं विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम निर्माण में सम्भवतः कम ध्यान दिया गया है, उनकी पत्रकारिता और भाषा चिन्तन पर। जबकि गाँधी की अहिंसक पत्रकारिता ने स्वतंत्रता की लड़ाई में एक महत्त्वपूर्ण शस्त्र का काम किया था तथा भाषा की अपनी अहमियत जगाकर देशवासियों में नये संग्राम का प्राण फूँका था। विदित हो कि गाँधी की पत्रकारिता का मिशन ने संघर्ष-समाधान में परिवर्तन का परिवेश निर्मित किया था, जिसकी अमिट छाप उनके पत्र 'हरिजन', 'नवजीवन', 'यंग इंडिया', 'इंडियन ओपिनियन' आदि में देखे जा सकते हैं जो पाठ्यक्रम में अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं।

गाँधी की अंग्रेजी ड्राफ्टिंग देखकर अंग्रेज भाषाविद् भी दंग रह जाते थे, लेकिन गाँधी ने अपनी भाषायी पत्रकारिता में हिन्दी भाषा को सर्वोपरि माना और स्वतंत्रता-संघर्ष में हिन्दी भाषा के प्रति जागरण में जोश पैदा किया। शिक्षा का माध्यम क्या हो, इसके प्रति गाँधी का चिन्तन प्रतिफलित होता है तथा वे भाषा और लिपि के लिए क्रमशः हिन्दी व देवनागरी को सर्वोपरि मानते हैं, क्योंकि यह ज़्यादा वैज्ञानिक है। भाषा के

नाम पर बंटे हुए परिवेश में *गाँधी का भाषा चिन्तन* उनके सर्वोपरि चिन्तन की व्याख्या है, जिसे पाठ्यक्रम में रखना अपनी संस्कृति व संस्कार के प्रति संवेदनशील बनाना है, ताकि भाषा के नाम पर बँटी हुई प्रदेशीय संवेदना में मिठास पैदा हो सके।

केन्द्रीय बौद्ध विद्या संस्थान, लेह लद्दाख में हिन्दी प्राध्यापकी करते हुए तिब्बत-चीन, भारत-पाकिस्तान व सियाचीन ग्लेशियर की संवेदना में शरीक हुआ तो मैंने महसूस किया कि संघर्ष-समाधान की जब भी बात उठेगी गाँधी-विचार के चिन्तन की धुरी में अहिंसा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाएगी तभी शांति-शोध की परिकल्पना पूरी हो सकेगी। तात्पर्य यह कि गाँधी के सम्पूर्ण चिन्तन में अहिंसा सर्वोन्मुखी है, जिसके बिना गाँधी चिन्तन की कल्पना करना भी सम्भव नहीं है। गाँधी-विचार पर निर्मित पाठ्यक्रम में अहिंसा और शांति-शोध से सम्बन्धित अध्ययन-अध्यापन गाँधी चिन्तन को पूर्णतः प्रदान करता है। फलतः सम्पूर्ण अध्ययन के विषय में अहिंसा और शांति अध्ययन अनिवार्य रूप से सम्मिलित होना पाठ्यक्रम के विषय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सफल बनाता है।

हम सभी जीवन में पग-पग पर न्याय-अन्याय के द्वंद्वात्मक संवेदना से रू-ब-रू होते हैं। न्याय आस्था और सत्य का सौन्दर्य है, अन्याय, अनास्था और असत्य का सौन्दर्य है। न्याय का सौन्दर्य अहिंसा है, अन्याय का सौन्दर्य हिंसा है। गाँधी का सौन्दर्य अहिंसक-न्याय का सौन्दर्य है। विद्यार्थियों में न्याय-अन्याय का सौन्दर्य-बोध विकसित हो इस हेतु गाँधी चिन्तन के विधि-व्यवसाय का अध्ययन-अध्यापन पाठ्यक्रम को एक बहुत बड़ा मोड़ देता है, जिसे पाठ्यक्रम के विषय में लाइफ का टर्निंग-प्वॉइंट कहा जा सकता है। और सच पूछा जाए तो पाठ्यक्रम लाइफ का टर्निंग-प्वॉइंट ही होता है। इस दिशा में गाँधी चिन्तन में विधि-व्यवसाय गाँधी विचार पाठ्यकम का महत्त्वपूर्ण मोड़ होगा। गाँधी जीवन भर न्याय-अन्याय की अदालत में सांसारिक वकालत करते रहे, सफलता उनकी क़दम चूमती रही।

विज्ञान विशेष ज्ञान का संवाहक है और औद्योगिकी की परिष्कृत और परिपुष्ट धारा है। गाँधी चिन्तन प्रौद्योगिकी की पुष्टधारा में औद्योगिकी का शमन नहीं चाहता और विशेष ज्ञान की उपलब्धता में आस्था का दामन छोड़ना नहीं चाहता। औद्योगिकी का शमन हिंसक वृत्ति है, आस्था का दामन छोड़ना मूल्यविहीन होना है। दोनों ही स्थितियां सामाजिक-शान्ति को भंग करती हैं, अस्तु, गाँधी विचार में विज्ञान और प्रौद्योगिकी अंतर्सम्बन्धों की मांग है। यही सुख, विकास और उपलब्धि का मानक है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी मानव-संहारक नहीं, मानव-संचारक हो, इसी दिशा-संदर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ और पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम अहिंसा के परमाणु बम बनाने की विचार-कार्यशाला में जुटे हैं। गाँधी चिन्तन में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की तकनीक से यह विचार-कार्यशाला अलग नहीं है। अतः पाठ्यक्रम-निर्माण की परिलब्धि

में गाँधी-चिन्तन में विज्ञान और प्रौद्योगिकी मानवीय चेतना के विहान में विहंगम परिदृश्य खोलेंगे।

इस तरह गाँधी चिन्तन का प्रथम उद्देश्य है समाज-निर्माण व मानव-निर्माण की चेतन-तकनीक पैदा करना। स्वतंत्रता प्राप्ति तो उसके माध्यम से प्राप्त सफलता थी और यह भी तथ्य सत्य है कि गाँधी ने समाज-परिवर्तन हेतु जो कार्य किया उसकी रचनाधर्मिता ही इतनी पुष्ट थी कि उनका समाज के हेतु किया गया कार्य सफलतम रहा, इसलिए भी अध्ययन के एक विषय के रूप में समाज-कार्य के लिए किये गये गाँधी चिन्तन के जो भी उपागम हैं, उनका एक सिंहावलोकन अति आवश्यक होगा ताकि गाँधी विचार में समाज-कार्य के लिए किये गये कौशलों को कार्यान्वित किया जा सके, विकास का वातायन खोला जा सके।

अस्तु, पाठ्यक्रम के सम्पूर्ण वाङ्मय में विहार करने के बाद चिन्तन की परिधि अन्ततः यही कहती है कि पाठ्यक्रम तो व्यक्तित्व-निर्माण का पाथेय होता है। इस दृष्टि से गाँधी-चिन्तन के पाठ्यक्रम में एक नये मनुष्य, एक सफलतम मनुष्य के निर्माण का श्रोत समाहित होना चाहिए।

मॉरिशस की हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' (1935-38) जिसका लोकार्पण विश्व हिन्दी सम्मेलन में हुआ

कमल किशोर गोयनका*

मॉरिशस में '11 वाँ विश्व हिन्दी सम्मेलन' का आयोजन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। मॉरिशस में जब पहला विश्व हिन्दी सम्मेलन हुआ था, तब सारे विश्व को मॉरिशस में हिन्दी भाषा व साहित्य की सुखद स्थिति की जानकारी हुई और मॉरिशस हिन्दी विश्व का एक महत्त्वपूर्ण देश बन गया। इस आयोजन का श्रेय श्री सूरज प्रसाद मंगर (एस. एम.) 'भगत' को है जो अपने जीवन-काल में मॉरिशस में विश्व हिन्दी सम्मेलन कराना चाहते थे। श्री भगत ने तब कहा था कि उनका स्वप्न पूरा हुआ और जीवन सार्थक हुआ। श्री सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' मॉरिशस के एक ऐसे हिन्दी-प्रेमी तथा हिन्दी सेवी थे जिन्होंने सारा जीवन हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए अर्पित किया, 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' के लगभग चालीस वर्ष मंत्री रहे और वर्ष 1935 से 'दुर्गा' नाम से हस्तलिखित पत्रिका निकाली। उस समय मॉरिशस में किसी हस्तलिखित पत्रिका को आरम्भ करने की कल्पना ही अकल्पनीय लगती है, यद्यपि तब तक हिन्दी में कुछ मुद्रित पत्रिकाएँ निकल चुकी थीं। श्री सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' के मन में इस अभिनव प्रयोग का विचार कैसे आया, इसकी खोज तो सम्भव नहीं है, परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि मॉरिशस के प्रवासी भारतीयों में जिसमें बहुत ही कम लोग शिक्षित और हिन्दी भाषा-साहित्य के ज्ञाता थे, उनको यह आवश्यक लगा कि देश को जाग्रत करने के लिए, 'मुर्दा क़ौम' में क्रान्ति लाने के लिए, हिन्दी भाषा के 'जानदार और शानदार' होने के सत्य को स्थापित करने एवं 'हिन्दी-हिन्दी-हिन्दी' के नाद को दिग्दिगन्त तक मुखरित करने तथा 'हिन्दू नवयुवकों को कर्म-पथ एवं लेखन-पथ' पर अग्रसर करना

ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली-110052; मो. 9811052469/7982117567
ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

और 'राजनीति' का ज्ञान देने के लिए एक पत्रिका की आवश्यकता है। उस काल-खण्ड में इन प्रवासी भारतीयों के पास कोई आर्थिक साधन नहीं थे, अतः उन्होंने हस्तलिखित पत्रिका के निकालने का निर्णय किया। यह महायज्ञ एक व्यक्ति-सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' के द्वारा शुरू हुआ, लेकिन इसमें हिन्दी एवं देश प्रेमी जुड़ते गए और 'दुर्गा' पत्रिका एक आन्दोलन बन गया और जनवरी, 1935 से शुरू होकर 1938 तक चलता रहा। इसके मूल में 'भगत' जी की अटूट निष्ठा, अटूट संकल्प एवं अखण्डित तथा निष्कम्प राष्ट्र-भक्ति, हिन्दी-भक्ति और हिन्दू-भक्ति थी। मॉरिशस में गुलामी के उस समय में जब गोरी सरकार के अत्याचारों से प्रवासी भारतीय दुःख एवं व्यथापूर्ण जीवन जी रहे थे और जीवन नारकीय बन गया था, तब सूर्यप्रसाद मंगर 'भगत' जैसे देश प्रेमी नवयुवक देश, जाति, धर्म एवं भाषा के उद्धार के लिए जाग्रति-यज्ञ आरम्भ कर रहे थे। इस राष्ट्रीय कार्य में 'भगत' का पूरा परिवार लगा था। गिरधारी भगत एवं रामलाल मंगर 'भगत' ने 24 दिसम्बर, 1935 को 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की। इसके मूल में 12 जून, 1926 को मोंताई लोग गाँव में स्थापित 'तिलक विद्यालय' था। 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' के लिए गिरधारी ने 10 बीघा जमीन और तीन हज़ार रुपए दिए और सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' चालीस वर्ष तक इस संस्था के मंत्री रहे। मॉरिशस में प्रथम हिन्दी सम्मेलन वर्ष 1941 में हुआ और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन 28-30 अगस्त, 1976 को मॉरिशस में हुआ। इन दोनों के आधार-स्तम्भ सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' ही थे। उन्होंने 28 अगस्त, 1976 को उद्घाटन के दिन राजेन्द्र अरुण से कहा था कि आज मेरी तपस्या फलीभूत हुई। यह सम्मेलन करके चाचा रामगुलाम (प्रधानमंत्री) ने हिन्दी को विश्व-मंच दिया है। अब मैं मर भी गया तो कोई हर्ज़ नहीं। और इसके 11 दिन बाद मॉरिशस के इस 'हिन्दी-वीर' तथा 'हिन्दी-रत्न' एवं 'मॉरिशस-रत्न' का देहावसान हो गया। इसके एक वर्ष बाद उनका कविता-संग्रह 'विचार-वीथिका' प्रकाशित हुआ और इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा—''प्रस्तुत कविताएँ प्रायः कठिन वेदना के बावजूद अस्पताल में रुग्ण-शैया पर उद्भूत एवं लिपिबद्ध हुई हैं। अस्पताल में तड़पन, क्रन्दन, कराह के साथ कविता आँसू बनकर निकलती है।'' कवि का निजी कष्ट भी उसे काव्य-रचना के संकल्प से हटा नहीं सका है। सच, ऐसे ही व्यक्ति राष्ट्र एवं समाज के निर्माता होते हैं। यह उनके गौरवमय जीवन की उपलब्धि है कि वे मॉरिशस में विश्व हिन्दी सम्मेलन करा सके और 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ऐतिहासिक महत्त्व की संस्था के रूप में विकसित कर सके। 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ने अनेक भारतीय हिन्दी साहित्यकारों का अपने प्रांगण में स्वागत किया है, अनेक कार्यक्रम किए हैं, असंख्य छात्रों को हिन्दी का ज्ञान कराया है तथा अनेक लेखक पैदा किए हैं। मेरी पहली मॉरिशस यात्रा वर्ष 1980 में 'प्रेमचन्द जन्म-शताब्दी' के समारोह में भाग लेने के लिए हुई थी, जो 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' ने ही आयोजित किया था और भारत सरकार ने मुझे भारतीय प्रतिनिधि बनाकर जैनेंद्र

कुमार जी के साथ भेजा था। मैंने तब दिल्ली में 'प्रेमचन्द्र जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति' बनाई थी और इसके जैनेंद्र जी अध्यक्ष थे, मैं संस्थापक महामंत्री और प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी संरक्षक थीं। मैंने उस समय 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' को शताब्दी-समारोह करने के लिए लिखा था और भारतीय उच्चायोग के सहयोग से यह कार्यक्रम हुआ था।

मॉरिशस की इस पहली यात्रा में कुछ बाद तक भी मुझे 'दुर्गा हस्तलिखित पत्रिका की जानकारी नहीं थी और जैसी कि इतिहास बताता है कि मॉरिशस के हिन्दी समाज को भी इसके बारे में कुछ विशेष जानकारी नहीं थी। वहाँ के कुछ हिन्दी विद्वानों-लेखकों– डॉ. लक्ष्मीप्रसाद रामयाद, सोमदत्त बखोरी, डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि, डॉ. बीरसेन जागासिंह, डॉ. विनोद बाला अरुण, प्रह्लाद रामशरण आदि ने 'दुर्गा' का उल्लेख किया है, परन्तु डॉ. विनोदबाला अरुण ने ही कुछ मूल्यांकनपरक टिप्पणियाँ की हैं, लेकिन एक ऐसी घटना हुई कि 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका का इतिहास खुला, उसके अंकों की एवं प्रकाशन-काल (1935-38) की जानकारी मिली और मुझे साक्षात् देखने का अवसर मिला। सम्भवतः यह बात 1998-99 के आसपास की है। इस समय तक हिन्दी जगत यह जान गया था कि प्रेमचन्द के साथ मॉरिशस का हिन्दी साहित्य भी मेरा अध्ययन-शोध का विषय है। एक दिन विदेश मंत्रालय में कार्यरत श्री तेजपाल 'दुर्गा' पत्रिका की एक फाइल लेकर आए और बोले कि यह फाइल हमारे कबाड़खाने में पड़ी थी। आप का सम्बन्ध मॉरिशस से है, कृपया आप देखें कि इसका कोई महत्त्व है या नहीं। यदि यह बेकार है तो हम इसे कबाड़ खाने में ही डाल देंगे और रद्दी वाला ले जाएगा। मैंने देखकर कहा कि तेजपाल जी यह तो हीरा है और इसकी रक्षा आवश्यक है। मैंने कहा कि यह 'दुर्गा' की फाइल 'हिन्दी प्रचारिणी सभा', मॉरिशस को लौटा देनी चाहिए तथा यह सरकारी तरीक़े से ही होना चाहिए। हुआ यह है डॉ. हरगुलाल गुप्त मॉरिशस में भारतीय उच्चायोग में हिन्दी अधिकारी थे और वे वर्ष 1985 में भारत में आयोजित एक प्रदर्शनी के लिए उसे वहाँ से लेकर आए थे। उसके बाद यह फाइल विदेश मंत्रालय के कबाड़खाने तक पहुँच गई, क्योंकि उसका कोई मालिक नहीं था और 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' भी वापिस लेने से भूल गई, परन्तु तेजपाल एवं एन.आर. भगत ने, मेरा अनुरोध मानकर इसे भारतीय उच्चायोग, मॉरिशस के माध्यम से मॉरिशस की 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' (जो इसकी असली मालिक थी) को वापिस लौटाया। सभा ने इसका बड़ा स्वागत किया, उनका कोहनूर हीरा उन्हें वापिस मिल गया था और उन्होंने मुझे मॉरिशस बुलाकर मेरा स्वागत-सम्मान किया। मेरे मॉरिशस प्रेम का यह अनुपम उपहार था।

'दुर्गा' की मॉरिशस वापसी 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' के विगत अध्यक्ष श्री अजामिल माताबदल के कार्यकाल में हुई। इस सम्बन्ध में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनके समय में ही मैंने 'दुर्गा' की कहानियों का संग्रह तैयार किया जो छपा तथा

'दुर्गा' पर एक शोध लेख भी प्रकाशित हुआ। इसी समय से मेरे मन में यह बात थी कि 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका (1935-38) के सम्पूर्ण अंक मूल रूप में प्रकाशित होने चाहिए, क्योंकि हिन्दी भाषा के इस इतिहास को उसके मूल रूप में सुरक्षित रखना इतिहास को जीवित रखना है। 'दुर्गा' के उद्देश्य, उसकी भाषा एवं विचार, उसकी लिपि तथा उस समय का मॉरिशस का समाज, इन सभी के आप साक्षात् दर्शन कर सकते हैं। यह सम्भवतः मॉरिशस में हिन्दी लिपि का पहला हस्तलेख है जो मूल रूप में सुरक्षित है। यह इतिहास की धरोहर है; यह मॉरिशस के पूर्वजों की निशानी है; यह प्रवासी भारतीयों की पीड़ा का तथा उससे मुक्ति की छटपटाहट का दस्तावेज है और है हिन्दी भाषा-साहित्य-पत्रकारिता-लिपि का दर्पण, जिसमें मॉरिशस की आज की पीढ़ी अपने पूर्वजों के महान् योगदान को देखकर गर्व कर सकती है। इसी भाव के कारण मैंने दिवंगत श्री अजामिल माताबदल के सम्मुख इसके प्रकाशन का प्रस्ताव रखा था लेकिन उनके दिवंगत होने से यह आरम्भ न हो सका तो '11वें विश्व हिन्दी सम्मेलन' के मॉरिशस में आयोजित होने से मुझे यह अवसर मिला कि मैं इस ओर फिर प्रत्यत्न करूँ, क्योंकि मेरा दृढ़ मत है कि 'दुर्गा' की सहज उपलब्धि में मॉरिशस के हिन्दी जगत, उसके साहित्य एवं पत्रकारिता तथा उसके स्वाधीनता आन्दोलन के सम्बन्ध में प्रवासी भारतीयों के योगदान के बारे में अनेक अज्ञात तथ्यों की जानकारी हो सकती है तथा इसका ज्ञान मॉरिशस को ही नहीं हिन्दी विश्व को भी होना चाहिए। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर मैंने 'विश्व हिन्दी सम्मेलन, मॉरिशस', 2018 की विदेश मंत्रालय की सलाहकार समिति की पहली बैठक में ही 'दुर्गा' का प्रस्ताव रखा था। उसके बाद विदेशमन्त्री श्रीमती सुषमा स्वराज ने 19 मई, 2018 की बैठक में यह निर्णय किया कि 'दुर्गा' के सभी अंक जो लगभग 2000 पृष्ठ हैं, उनका तीन खण्डों (1935, 1936 तथा 1937-38) में प्रकाशन होगा और कमल किशोर गोयनका सम्पादन करेंगे और इसके प्रकाशन की रूपरेखा बनाएँगे। माननीया सुषमा जी ने कहा कि 'दुर्गा' का अभिलेखागारीय महत्त्व है और इसका मूल रूप में सुरक्षित रहना आवश्यक है। यह मॉरिशस तथा हिन्दी विश्व के लिए एक उपलब्धि होगी।

'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका (1935-38) की उपलब्धि एवं प्रकाशन की इस पृष्ठभूमि के बाद उसके उपलब्ध इतिहास तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों की जानकारी देना आवश्यक है जिससे 'दुर्गा' के अंकों को पढ़ने से पहले पाठक उसकी आत्मा को तथा उसके स्वरूप को समझ सकें। मैं मॉरिशस के हिन्दी-प्रेमी तथा द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के आयोजक के रूप में सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' के नाम से परिचित था। परन्तु वे 'दुर्गा' के सम्पादक थे और वह हस्तलिखित थी; इसकी पहली बार जानकारी सोमदत्त बखोरी की पुस्तक 'एक मॉरिशस वासी की हिन्दी यात्रा' से हुई थी। बखोरी सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' के शिष्य थे और उन्होंने उनसे हिन्दी सीखी थी। सूरज प्रसाद ने 'दुर्गा' पत्रिका निकाली तो बखोरी को भी लिखने के लिए

प्रेरित किया। डॉ. लक्ष्मण प्रसाद रामयाद ने भी अपने अँग्रेजी शोध-प्रबन्ध में 'दुर्गा' का उल्लेख 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' की अनियतकालीन हस्तलिखित पत्रिका के रूप में किया है, परन्तु यह अनियतकालीन नहीं थी। यह तो मासिक हस्तलिखित पत्रिका थी और एक पाठक (जो प्रायः लेखक होता था) से दूसरे पाठक तक स्वयं पहुँचाई जाती थी अथवा पाठक स्वयं हासिल करता था। डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि ने अपनी पुस्तक 'मॉरिशसीय हिन्दी साहित्य' (द्वितीय भाग) में इसका उल्लेख मात्र किया है, लेकिन उनकी अन्य पुस्तकों तथा 'मॉरिशस में हिन्दी पत्रकारिता' शीर्षक अध्याय में 'दुर्गा' का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार डॉ. बीरसेन जागासिंह ने अपने एक लेख में 'दुर्गा' का उल्लेख किया है। मॉरिशस के इतिहासकार प्रह्लाद रामशरण ने तो 'दुर्गा' के सम्बन्ध में सूचना देने में एक तो भूल की है तथा इसके सम्पादक सूर्यप्रसाद मंगर भगत (ज्वालामुखी) पर नौ पृष्ठों का लेख लिखने पर भी 'दुर्गा' की सामग्री तथा उसके योगदान में एक शब्द भी नहीं लिखा है। उन्होंने अपने लेख में एक ही वाक्य लिखा है, ''सन् चालीस में ही भगत जी ने 'दुर्गा' नाम की साहित्यिक हस्तलिखित पत्रिका शुरू की थी।'' प्रह्लाद रामशरण ने 1940 का वर्ष ग़लत दिया है। 'दुर्गा' का पहला अंक जनवरी, 1935 में निकला था और यह हस्तलिखित पत्रिका 1938 तक निकलती रही थी। स्पष्ट है, प्रह्लाद रामशरण ने 'दुर्गा' की फाइलें नहीं देखीं, जबकि वे मॉरिशस के खोजी इतिहासकार हैं। प्रह्लाद रामशरण की एक दूसरी पुस्तक 'मॉरिशस के मध्यकालील काव्य-प्रसून' में, जिसमें सन् 1935 से 1960 तक कि अज्ञात एवं असंकलित कविताएँ संकलित की गई हैं, न तो 'दुर्गा' की चर्चा है और न इस हस्तलिखित पत्रिका में प्रकाशित कविताओं को ही संकलित किया गया है। मुझे उन जैसे खोजी इतिहासकार की इस उपेक्षा का कारण समझ में नहीं आया। इसी प्रकार 'मॉरिशस में हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास' पर डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त करने वाले डॉ. श्यामधर तिवारी ने अपने शोध-प्रबन्ध में बारह स्थानों पर 'दुर्गा' का उल्लेख करने पर भी वे इसकी सामग्री का विवेचन नहीं करते और इसका कारण यही है कि 'दुर्गा' के अंकों को देखें बिना कोई भी उसका विवेचन कैसे कर सकता था?

मॉरिशस की डॉ. विनोद बाला अरुण ने अपनी पुस्तक 'मॉरिशस की हिन्दी कहानी-यात्रा' में अवश्य ही कुछ मूल्यांकन परक टिप्पणियाँ की हैं तथा 'दुर्गा' में प्रकाशित प्रायः सभी कहानियों की समीक्षा की है। यह पहला प्रयास है जब 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका को इतना महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि इसके द्वारा हिन्दी के लेखन को विकसित करने तथा भाषा से अपनी पहचान बनाने का स्तुत्य प्रयास किया गया। विनोदबाला अरुण ने लिखा है कि इन कहानियों के बिना मॉरिशस के कथा-साहित्य को नहीं समझा जा सकता और यह भी कि सूरज प्रसाद मंगर 'भगत' के वास्तविक योगदान का भी मूल्यांकन होना अभी शेष है।

मैं समझता हूँ, इस भूमिका की यही पृष्ठभूमि है और यही इसकी प्रेरणा-भूमि है। 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका के उल्लेख के बावजूद, मॉरिशस के अधिकांश इतिहासकारों, शोधार्थियों तथा समीक्षकों ने इसके महत्त्व को क्यों नहीं समझा, मेरे सामने यह एक बड़ा प्रश्न है। सम्भवतः इसके हस्तलिखित होने के कारण इसे महत्त्वहीन मान लिया गया, लेकिन इतिहासकारों को तो इसके मूल्य को समझना चाहिए था। भारत में हज़ारों पाण्डुलिपियाँ भोजपत्रों में उपलब्ध होती हैं, क्योंकि उस समय मुद्रण की तकनीक नहीं थी और वे ही ज्ञान-विज्ञान को सुरक्षित रखने तथा अध्ययन की साधन थीं। विश्व की प्रायः सभी धार्मिक ग्रन्थ तथा संस्कृत की अधिकांश प्राचीन पुस्तकें एवं कबीर, तुलसी, जायसी, सूरदास, बिहारी आदि की रचनाएँ भी हस्तलिखित रूप में ही मिलती हैं और ये सभी भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला और साहित्य की आधारभूत सामग्री बनती है। अतः 'दुर्गा' के मुद्रित न होने के कारण यदि इसकी उपेक्षा की गई तो यह खेद का विषय है। विनोद बाला अरुण के विवेचन से स्पष्ट है कि वे पहली समीक्षक हैं जिन्होंने 'दुर्गा' के सभी उपलब्ध अंकों को पहली बार विस्तार से देखा है और उनमें हस्तलिपि में लिखित सभी कहानियों का विवेचन किया है।

मेरी दृढ़ मान्यता है कि 'दुर्गा' के सभी अंक प्रकाशित होने चाहिए तथा उनमें संकलित सामग्री का मॉरिशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से उसका विवेचन और मूल्यांकन होना चाहिए। 'दुर्गा' हस्तलिखित ऐसी पत्रिका है, जिसके उद्देश्यों तथा रचनाओं की प्रकृति से इतिहास के कुछ ज्ञात तथ्यों की पुष्टि हो सकती है तथा अनेक अज्ञात एवं अकल्पनीय तथ्यों की स्थापना हो सकती है। 'दुर्गा' में प्रस्तुत साहित्यिक रचनाएँ मॉरिशस के इतिहास, हिन्दू धर्म एवं संस्कृति, हिन्दी भाषा तथा साहित्य, भारतवंशियों की मॉरिशसीयता, मॉरिशस-भारत के सम्बन्धों आदि अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसके सम्पूर्ण अंकों का विवेचन-मूल्यांकन होना चाहिए। मैं यहाँ 'दुर्गा' के पहले वर्ष सन् 1935 के उपलब्ध सभी अंकों का संक्षिप्त अध्ययन एवं विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिससे इसके सम्पूर्ण अध्ययन की महत्ता की महत्ता मॉरिशस के साहित्य-प्रेमियों को स्पष्ट हो सके। इस वर्ष के मार्च और दिसम्बर के अंक अब उपलब्ध नहीं है।

1. पत्रिका का आवरण

'दुर्गा' के फरवरी, 1935 के अंक में पाँच पृष्ठों के बाद लखनऊ (भारत) से प्रकाशित होने वाली हिन्दी मासिक पत्रिका 'माधुरी' का आवरण काटकर चिपकाया हुआ है। इस रंगीन चित्र में भारतीय स्त्री के पाँच विभिन्न मुद्राओं के चित्र हैं और पृष्ठ के चारों ओर सम्पादक की चार टिप्पणियाँ हैं :—

1. 'यत्र नारियस्तु पूज्यते रमते तत्र देवता'—हमारी मूर्खा कहासिन औरतों से तुलना कीजिए।

2. ऊँची एड़ी वाली जूती पहनकर पति की बाँह-में-बाँह मिलाकर गली में चलने से मॉरिशयन हिन्दू स्त्रियाँ सुधर नहीं सकतीं।
3. जब तक मॉरिशस का हिन्दू समाज अपनी माताओं की सेवा करना न सीखेगा-उद्धार असम्भव है।
4. ऐसी ही अनिन्द्य सुन्दरियाँ वीर-प्रसूता होती हैं।

इन पर मेरा निष्कर्ष है कि मॉरिशस में सन् 1935 से पूर्व भारत से हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाएँ आती थीं और वे मॉरिशस में हिन्दी भाषा और साहित्य के वातावरण को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहीं थीं। मॉरिशस के इतिहासकारों को खोजना चाहिए कि भारत से हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का आयात कब से शुरू हुआ तथा कौन-कौन सी पत्रिकाएँ आती रहीं तथा हिन्दी भाषा एवं साहित्य के निर्माण तथा विकास में क्या योगदान किया। इस चित्र पर अंकित चार सम्पादकीय टिप्पणियाँ मॉरिशस की नई सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागृति की प्रतीक हैं। इनसे स्पष्ट है कि यह नव-जागरण भारत से प्रेरित है। प्रेमचन्द 'वरदान' में देश प्रेमी पुत्र चाहते हैं और मॉरिशस के सूर्यप्रसाद मंगर 'भगत' भी मॉरिशस में ऐसी हिन्दू स्त्रियाँ चाहते हैं जो 'वीर-प्रसूता' हों। मेरे विचार में दोनों में समानता है। 'वीर-प्रसूता' ही देश-प्रेमी पुत्र को जन्म दे सकती है और 'देश-प्रेमी पुत्र' का जन्म देने वाली स्त्री 'वीर-प्रसूता' ही कहलाएगी। भारत और मॉरिशस दोनों ही गुलाम देश थे और उनकी स्वतन्त्रता देश-प्रेमी वीर पुत्रों से ही हो सकती थी। इन टिप्पणियों से सम्पादक की हिन्दू स्त्रियों पर अँग्रेज स्त्रियों के प्रभाव पर गहरी चिन्ता का भाव भी स्पष्ट है। सम्पादक हिन्दू स्त्रियों को मर्यादा, संयम एवं भारतीय जीवन-मूल्यों से युक्त देखना चाहता है।

2. पत्रिका के उद्देश्य

'दुर्गा' के पहले अंक (जनवरी 1935) में सम्पादक ने पत्रिका के सात उद्देश्यों की घोषणा की हैं। ये उद्देश्य इस प्रकार से हैं:—

1. हिन्दी नवयुवकों, हिन्दी विद्यार्थियों में लेख लिखने का माद्दा पैदा करना
2. हिन्दी कैसी जानदार और शानदार भाषा है अँग्रेज-फ्रेन्च पर लट्टू रहने वालों को दिखाना
3. हमारी मुर्दा क़ौम में क्रान्ति की रूह फूँकना
4. हिन्दू नवयुवकों को कर्म-पथ पर अग्रसर करना
5. राजनीति किस चिड़िया का नाम है, उससे हिन्दुओं को परिचित कराना
6. हिन्दू धर्म का रहस्योद्घाटन करना
7. हिन्दी-हिन्दी-हिन्दी के नाद से दिग्दिगन्त को मुखरित करना

मेरे विचार में ये उद्देश्य मॉरिशस में जन्म लेने वाली वैचारिक क्रान्ति के प्रमाण और प्रतीक हैं। इससे पूर्व के प्रमाण मेरे पास नहीं हैं कि मैं बता सकूँ कि 'दुर्गा' से

पहले ऐसे उद्देश्यों की घोषणा किसने की थी, परन्तु यह निश्चित है कि यह एकाएक फटने वाला विस्फोट नहीं है। इससे पूर्व अवश्य ही भारतवंशी हिन्दू तथा हिन्दू संस्थाएँ इन लक्ष्यों के अनुरूप कार्य कर रही होंगी, परन्तु यह निर्विवाद हो सकता है कि मॉरिशस के साहित्य-समाज में यह पहला वैचारिक नवजागरण था, एक वैचारिक क्रान्ति थी। इन उद्देश्यों में हिन्दू, हिन्दी के साथ हिन्दू नवयुवकों को मॉरिशस के निर्माण में कर्म-पथ पर अग्रसर करना है। मॉरिशस के हिन्दू सोए हुए हैं, इसलिए राजनीतिक, धार्मिक, जातीय, भाषिक एवं सांस्कृतिक चेतना को उत्पन्न करके उसे मॉरिशस के दिग्दिगन्त तक मुखरित करना है। मुर्दा क़ौम और मुर्दा हिन्दू नवयुवकों को देश की रचना में प्रवृत्त करने के ये उद्देश्य भारत के आरम्भिक दशकों जैसे ही हैं। अतः 'दुर्गा' हिन्दू जाति, धर्म, संस्कृति, हिन्दी भाषा और मॉरिशसीय अस्मिता का शंखनाद करती है। 'दुर्गा' के ये उद्देश्य उसके बाद के अंकों में बार-बार लिखे जाते रहे हैं, जिससे उसके नये-नये रचनाकार-पाठकों को उनकी जानकारी होती रहे और वे सांस्कृतिक-राष्ट्रीय-जागरण के मिशन में साथ हो सकें।

3. लेख तथा लेखकों के नियम

'दुर्गा' के पहले अंक में और बाद में भी कभी-कभी, लेख एंव लेखकों के नियम स्पष्ट किये गये हैं। सम्पादक ने इस प्रकार लेखक एवं लेखों के चयन की नीति बनायी और उसे पहले अंकों में घोषित किया। 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका थी और उसके पाठक प्रायः उसके लेखक ही हो सकते थे, इसलिए इन नियमों में इन स्थितियों का उल्लेख मिलता है।

'दुर्गा के नियम लेख सम्बन्धी बातें' शीर्षक से ढाई पृष्ठों में लिखित ये नियम इस प्रकार से हैं:—

1. 'दुर्गा' हर एक अँग्रेजी मास के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगी।
2. 'दुर्गा' हर एक लेखक को बिना मूल्य सर्वप्रथम पढ़ने को मिलेगी। जो लेखक स्थानीय न होंगे वे डाक ख़र्च भेजकर प्रकाशक से मँगा सकते हैं।
3. 'दुर्गा' को हर एक पाठक अपने पास दो दिन से अधिक नहीं रख सकता। अनू-स्थानीय लोगों पर यह नियम लागू न होगा।
4. लेखकों के अलावा अन्य शिक्षित पाठक भी पढ़ने के अधिकारी हैं, बशर्ते कि वे पत्रम्-पुष्पम् सहायता के रूप में देवें।
5. प्रकाशक की आज्ञा के बिना किसी भी (कोई भी) पत्रकार 'दुर्गा' के लेख उद्धृत करने के अधिकारी नहीं है।
6. घासलेट लेख न लिखे जाएँगे। विशेषतः राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा धार्मिक लेख लिखे जाएँगे। धार्मिक लेखों में—विशेषतः विशुद्ध हिन्दू

धर्म का पृष्ठ-पोषक लेख ही लिए जाएँगे। वीर रस सम्बन्धी लेख हमेशा स्वीकृत हैं।

7. लेख साफ और मोटे हरूपों में आने चाहिए। गाली-गलौज तथा व्यक्तिगत आक्षेपपूर्ण लेख हमेशा बहिष्कृत समझना चाहिए।
8. लेखक को काग़ज़ कलम दवात न दिए जाएँगे। चार (बाद में आठ हो गए) फुल काग़ज़ से अधिक लेख न होने चाहिए।
9. लेख हमेशा सुन्दर ग्लेज पेपर पर ही लिख कर भेजना चाहिए।
10. यदि लेखक अपना लेख सचित्र प्रकाशित करवाना चाहे, तो चित्रों का प्रबन्ध लेखक को ही करना चाहिए।
11. सम्पादक को लेखों का कतर-व्योंत करने का अधिकार है। सम्पादक के लिए पृष्ठ की दोनों ओर मार्जिन छोड़ने चाहिए।

इन नियमों में से एक पर यहाँ टिप्पणी करना चाहूँगा। क्रम संख्या 6 में 'घासलेट लेख' के न छापने का उल्लेख है, परन्तु मॉरिशस के हिन्दी पाठक शायद इस 'घासलेट' शब्द का सन्दर्भ न समझ पाए, क्योंकि यह शब्द भारत से गया है। 'विशाल भारत' के सम्पादक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी के गन्दे और नग्न साहित्य को 'घासलेटी साहित्य' (कभी 'चाकलेटी' भी) घोषित कर 'विशाल भारत' में सन् 1929 में एक आन्दोलन चलाया था और इसके दिसम्बर, 1929 के अंक में 'घासलेट-विरोधी आन्दोलन का उपसंहार' शीर्षक से अन्तिम लेख लिखा। इस लेख में प्रेमचन्द के विचारों को भी उद्धृत किया गया है। प्रेमचन्द ने लिखा कि 'नग्न कुवासनाओं का निदर्शन' करने वाला घासलेटी साहित्य बहुत ही हानिकारक है। उन्होंने आगे कहा कि साहित्य का उद्देश्य ही चरित्र का निर्माण है, इसलिए साहित्य-रचना में अपने आदर्शों और उद्देश्यों पवित्र रखना चाहिए। इस प्रकार 'दुर्गा' में 'घासलेट' शब्द के प्रयोग से दो निष्कर्ष निकलते हैं—(1) 'दुर्गा' के आरम्भ होने से पूर्व 'विशाल भारत' हिन्दी मासिक पत्रिका भी मॉरिशस पहुँचती थी। 'विशाल भारत' सन् 1928 से कलकत्ता से आरम्भ हुई थी और पं. बनारसीदास चतुर्वेदी इसके सम्पादक थे। इस प्रकार मॉरिशस में हिन्दी की नई-नई साहित्यिक पत्रिकाएँ पहुँच रही थीं और मॉरिशस में हिन्दी एवं हिन्दी साहित्यकारों को प्रभावित कर रही थीं। (2) 'दुर्गा' सम्पादक घासलेटी लेख के बहिष्कार में एक प्रकार से प्रेमचन्द और बनारसीदास चतुर्वेदी की मान्यताओं का ही समर्थन कर रहे थे। उन्हें भी भारत के समान अपने देश में कामुकता और नग्नता के विरोध में ही देश का निर्माण दिखाई दे रहा था।

4. पत्रिका का नामकरण 'दुर्गा' क्यों?

'दुर्गा' के पहले अंक में इसके सम्पादक 'ज्वालामुखी' (सूर्य प्रसाद मंगर 'भगत') ने 'सिंहनाद' शीर्षक से सम्पादकीय लिखा है इसमें चार टिप्पणियाँ हैं—'दुर्गा', 'दुर्गा नाम

क्यों पड़ा', 'प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी', तथा 'लेखकों को धन्यवाद'। ज्वालामुखी ग़रीब हैं, खेतों में काम करके दो रोटी कमाते हैं, लेकिन साधनहीन होने के कारण हाथ-पर-हाथ रखना कायरता समझते हैं। महात्मा गाँधी का उदाहरण उनके सामने है। वे 'दुर्गा' में टिप्पणी लिखते हैं—''महात्माजी केवल मात्र लँगोटी धारण कर संसार की सबसे जबरदस्त शक्ति को हिला सकते हैं तो हम ग़रीब होने पर, साधनहीन होने पर हिन्दुओं में क्रान्ति की लहर-एक हस्तलिखित पत्रिका के द्वारा दौड़ा नहीं सकते?'' इस सकंल्प में एक अग्नि है, एक क्रान्ति है, नवजागरण की आँधी है।

ज्वालामुखी पत्रिका के नामकरण पर लिखते हैं—''हमारा मत तो इस पत्र का नाम 'क्रान्तिकारी' रखने का था, लेकिन मित्रमण्डली ने इसे ज़रा गर्म समझा और इस नाम से कोई पत्र निकालने की मनाही की। किसी ने कहा कि 'ज्वाला' नाम रखो, किसी ने कहा, 'अन्धेर', किसी ने कहा 'अभिमन्यु'। अनेक वाद-विवाद के बाद हमारे मित्र श्री केशव देव जी, हिन्दी के ख्यात नाम, लेखक ने 'दुर्गा' नाम रखने का प्रस्ताव रखा। यह नाम सभी को ठीक जँचा। हमारा उद्देश्य हिन्दुओं में क्रान्ति करना है।''

सूर्यप्रसाद मंगर 'भगत' में विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि का संश्लिष्ट भाव और बेचैनी है। वे 'दुर्गा' से हिन्दुओं में क्रान्ति उत्पन्न करना चाहते हैं, वैसे ही जैसे प्रेमचन्द गाँधी के 'स्वाधीनता महासमर' में 'हंस' पत्रिका (सन् 1930) को आरम्भ करके राम के सेतु-बन्ध में गिलहरी जैसा योगदान करने का संकल्प लेते हैं। प्रेमचन्द इसे सन् 1930 में कर रहे थे और सूर्यप्रसाद मंगर भगत 'ज्वालामुखी' के नाम से जनवरी, 1935 में मॉरिशस में कर रहे थे। दोनों लेखक एक समान रूप में ही अपने-अपने देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन का आह्वान कर रहे थे।

5. सम्पादकीय टिप्पणियों का स्वरूप

'दुर्गा' के सन् 1935 के उपलब्ध दस अंकों में सम्पादकीय टिप्पणियाँ दो प्रकार की हैं:—

1. 'सिंहनाद' शीर्षक से विभिन्न विषयों पर सम्पादकीय विचार
2. पत्रिका के विभिन्न स्थानों पर छोटे-छोटे वाक्यों में पाठकों को सन्देश तथा चेतावनियाँ

पहले 'सिंहनाद' के सम्पादकीयों पर विचार करते हैं। 'दुर्गा' के जनवरी अंक में चार, फरवरी में तीन, अप्रैल में चार, मई में पाँच, जून में सात, जुलाई में सात, अगस्त में छः, सितम्बर में पाँच, अक्टूबर में छः, तथा नवम्बर में सात सम्पादकीय टिप्पणियाँ हैं। इस प्रकार इस वर्ष के दस अंकों में कुल 54 टिप्पणियाँ हैं। ये सम्पादकीय टिप्पणियाँ प्रायः भारत की तत्कालीन हिन्दी पत्रिकाओं के सम्पादकीय लेखों की पद्धति पर ही लिखी गई हैं। इन हिन्दी पत्रिकाओं में 'माधुरी', 'मर्यादा', 'हँस', 'चाँद', 'विशाल भारत', 'विश्व-मित्र' आदि पत्रिकाओं को देखा जा सकता है। 'दुर्गा' के इन

54 सम्पादकीय लेखों का विषय मॉरिशस, भारत और विश्व की घटनाएँ हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के शीर्षक उल्लेखनीय हैं:—

1. प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी—जनवरी, 1935
2. प्राइवेट स्कूलों के हिन्दी अध्यापक—फरवरी, 1935
3. मॉरिशस के विद्वान—फरवरी, 1935
4. राष्ट्र संघ में फरियाद—अप्रैल, 1935
5. सम्राट की रजत जयन्ती (जुबली)—मई, 1935
6. भारतीय व्यवस्थापिका सभा—मई, 1935
7. पोर्ट लुइस शहर निर्माण का द्वेयाष्टि महोत्सव—जून, 1935
8. कुली शताब्दी—जून, 1935
9. भारत में फिर भूकम्प—जुलाई, 1935
10. इटली तथा अवसीनिया—जुलाई, 1935
11. हमारे चीनी—मूल्य का ह्रास-अगस्त, 1935
12. कुली शताब्दी—अगस्त, 1935
13. कुली शताब्दी—अगस्त, 1935
14. प्रवासी शताब्दी—सितम्बर, 1935
15. जातीय सभाएँ—सितम्बर, 1935
16. हिन्दी साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता—सितम्बर, 1935
17. विशेषांक के सम्बन्ध में—नवम्बर, 1935
18. घृणा व्यंजक 'मालबार' शब्द—नवम्बर, 1935
19. उद्योग धन्धे और हम—नवम्बर, 1935
20. स्वागत का रोग—नवम्बर, 1935

'दुर्गा', के सभी सम्पादकीयों को एक पुस्तक में संकलित करके प्रकाशित किया जाना चाहिए। इन सम्पादकीयों में उस काल-खण्ड का इतिहास है तथा हिन्दी पत्रकारिता का वह श्रेष्ठ रूप है जिस पर मॉरिशस को गर्व हो सकता है। 'दुर्गा' के इन सम्पादकीयों में सम्पादक की अपने देश, धर्म, संस्कृति, जाति, भाषा तथा मनुष्यता के प्रति जो दृष्टि है, वह उसे भारत के विख्यात सम्पादकों (महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, दुलारे लाल भार्गव आदि) की कोटि में रख देता है। 'दुर्गा' की सम्पादन—कला तथा सम्पादकीय लेखों पर यदि कोई स्वतन्त्र शोध-कार्य हुआ, तो मुझे विश्वास है कि वह मॉरिशस की हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में देदीप्यमान ज्योति-स्तम्भ की तरह चमकता हुआ दिखाई देगा। 'दुर्गा' हस्तलिखित हिन्दी पत्रिका होने पर भी वह हिन्दी पत्रकारिता की उस काल-खण्ड में मानक उपस्थित करने वाली पत्रिका है।

'दुर्गा' सम्पादक की कुछ टिप्पणियाँ पत्रिका में यत्र-तत्र मिलती हैं। ये टिप्पणियाँ ख़ाली स्थानों को भरने के लिए हैं या कई बार बायें खाली पृष्ठ पर लिखी गई हैं, पर ये किन्हीं उद्देश्यों के लिए हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना समीचीन होगा :—

1. ध्यान से पढ़िए– जो इस पत्रिका को हड़प जाएगा या हड़पने की नीयत रखेगा उसे एक हज़ार बाल-हत्या का पाप लगेगा। वह पाठक हिन्दी के, हिन्दू जाति के, हिन्दू धर्म के कट्टर शत्रु समझा जाएगा (जनवरी, 1935)
2. शुद्ध हिन्दी प्रचार का शंखनाद टापू के कोने-कोने में कीजिए। (फरवरी, 1935)
3. हिन्दुओ! अपनी औरतों को इज़्ज़त की दृष्टि से देखो। उन्हें माता के समान पूजा करो, बहन के समान प्रेम करो। बन पड़े तो इनके लिए अपने प्राण भी दे दो। (फरवरी, 1935)
5. पाठकों से निवेदन-प्रिय पाठकगण, दुर्गा बिलकुल राजनीतिक पत्रिका है। आप अनाधिकारियों को पढ़ने को न दीजिएगा, क्योंकि हम दोनों की हानि है और 'दुर्गा' सरकारी नियमानुसार रजिस्टर्ड नहीं है। (फरवरी, 1935)
6. संसार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कौन है? महात्मा गाँधी (फरवरी, 1935)
7. संघ शक्ति कलियुग। (फरवरी, 1935)
8. क्या आप अल्प समय में लेखक बनना चाहते हैं, तो 'दुर्गा' में लेख लिखिए। (अप्रैल, 1935)
9. यदि आप हिन्दुस्तानी होने का दावा रखते हैं, तो इस स्वदेशी के ज़माने में विदेशी वस्तुओं का क्यों इस्तेमाल करते हैं। हमेशा हिन्दुस्तान का माल खरीदिए। (अप्रैल, 1935)
10. 'दुर्गा' के पाठक बनने का प्रयत्न कीजिए। यही एक पत्रिका है, जो हिन्दुओं की लाज रखती है। (मई, 1935)
11. लड़कियों को मूर्खा रखना गो-घात के समान है। (मई, 1935)
12. आपस में हिन्दी में ही वार्तालाप कीजिए। गोरे विदेशी भाषा में क्यों बोलते हैं, इसलिए कि उनमें राष्ट्रीयता है। (मई, 1935)
13. लेखकों के हित की बात-आप हमेशा मौलिकता की ओर ध्यान दीजिए। किसी का लेख चोरी न कीजिए। धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वास को दूर ही से नमस्कार कीजिए और साफ़ सुन्दर अक्षरों में लिखिए। (जून, 1935)
14. सभी नवयुवकों का एक ही उद्देश्य हो- हिन्दी का प्रचार करना। (जून, 1935)
15. शक्ति-संचय करके अनाचारों के विरुद्ध जेहाद बोल दो। (जुलाई, 1935)
16. हाथ-पर-हाथ धर कर भगवान भगवान कायर चिल्लाता है, वीर नहीं। (जुलाई, 1935)
17. कुली-शताब्दी–1835-1935–हम कुली सन्तानों के लिए आनन्द की बात है। हर एक कुली-सन्तान को गर्व करना चाहिए। (अगस्त, 1935)

18. 'दुर्गा' में नियमित न लिखने वाले युवक लेखकों की सूची, यथा : चिन्गारी, बिगुल, बबुआ श्यामदत्त, प्रयाग, गुलाब, नन्दन, पं. दीपलाल शर्मा, शम्भु। इन्हें क्या कहा जाए भगेड़ू, आलसी या क्या? नवयुवकों-शिक्षित-के चरित्र और भविष्य निर्माण के लिए हम अपनी ज़िन्दगी को सबसे क़ीमती समय-अवस्था-होम कर रहे हैं। और ऊपर लिखित नवयुवकों को अपने भविष्य की रंच मात्र भी चिन्ता नहीं है। ये आमोद-प्रमोद, लग्जरी के भयंकर विष-बेलि को चुमने में अतिरंजना अनुभव कर रहे हैं। खेद है। (सितम्बर, 1935)
19. लेखकों से दो शब्द-लेखक गण! जब आप दो तीन अंकों में ही लेख देकर कलम को विश्रान्ति दे देंगे तब हो चुका आप के मिशन की पूर्ति। क्या आप भूल गए कि हर एक जाति की आत्मा 'नवयुवक' ही होते हैं। तब 'दुर्गा' में लिखने से हाथ क्यों खींच लिए हैं, जब 'दुर्गा' चल निकली, पाठक संख्या 50 तक पहुँच चुकी, इसका स्टैण्डर्ड दिन-दिन ऊँचा होने लगा, तब आप में कायरता कहाँ से आ घुसी? यह आपकी प्रारम्भिक कायरता हमें नपुन्सकत्व का आभास दे रही है। बैठे क्यों हो? उठो, क़लम पकड़िए। टापू का एक दुर्निवार अभाव की पूर्ति करिए। बैठने के बजाय अपने ध्येय की पूर्ति निमित्त जूझ रहना श्रेयस्कर है। —ज्वालामुखी। (सितम्बर, 1935)
20. केवल धार्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय से काम न चलेगा। यह कर्मयुग है, धर्मभीरु युग नहीं। (अक्टूबर, 1935)

ये लघु एवं यत्र-तत्र बिखरी सम्पादकीय टिप्पणियों में भारतवंशी हिन्दू जाति का मॉरिशसीय राष्ट्र-दर्शन व्यंजित होता है। यदि 'दुर्गा' के 'सिंहनाद' स्तम्भ में प्रकाशित सम्पादकीय लेखों को इन लघु टिप्पणियों के साथ रखकर देखा जाए तो मॉरिशस की हिन्दू जाति की राष्ट्र के निर्माण की एक समग्र संकल्पना स्पष्ट हो जाती है। इसका महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि यह राष्ट्रीय संकल्पना हिन्दी के नवयुवक लेखकों की चिन्तन-प्रक्रिया से हो रहा था। इसकी संरचना में न राजनेता हैं, और न धार्मिक नेता और न पुरोहित ही हैं। यह विशुद्ध साहित्यिक अवधारणा है, जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन एवं उन्नयन से मॉरिशस राष्ट्र को नया रूप देने का संकल्प है। मॉरिशस में मणिलाल डॉक्टर के प्रयासों के बाद यह नया जागरण है जो मॉरिशस में जन्मे भारतवंशी हिन्दू नवयुवकों की संगठित शक्ति से होता है। 'दुर्गा' हिन्दू जाति में नई क्रान्ति उत्पन्न करती है जो स्वामी विवेकानन्द की याद दिलाती है।

मॉरिशस की ऐसी हस्तलिखित पत्रिका 'दुर्गा' का मॉरिशस के 11वें विश्व हिन्दी सम्मेलन में 18 अगस्त, 2018 को उद्घाटन के समय विदेश मंत्री श्रीमती सुषमा

स्वराज ने इसका लोकार्पण किया और सम्मेलन में उपस्थित लगभग 2000 प्रतिभागियों ने मॉरिशस के हिन्दी पत्रकारिता में इस अभिनव योगदान को मूल दस्तावेज़ के रूप में देखा। 'दुर्गा' के तीन खण्ड (1935-38) लगभग 2100 पृष्ठों के हैं और वे सभी मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। मॉरिशस के लोगों को भी 'दुर्गा' की छुट-पुट जानकारी थी। एक आध के अलावा उसे किसी ने देखा भी नहीं था। 'दुर्गा' के अंकों से ज्ञात होता है कि साहित्य की अधिकाँश विधाओं में उस समय के लेखक रचना कर रहे थे, भारत से हिन्दी पत्रिकाएँ तथा साहित्य वहाँ पहुँच रहा था, यहाँ तक कि प्रेमचन्द के देहान्त पर नवम्बर, 1936 के अंक में उन्हें श्रद्धांजलि दी गई है, लेकिन वहाँ हिन्दी पत्रकारिता को उसने जो ऊँचाइयों तक पहुँचाया वह अद्‌भुत एवं रोमांचक है। 'दुर्गा' के द्वारा एक युवा पीढ़ी देश-जाति की जागृति के लिए सामने आई और अपने समाज को दासता से मुक्ति, अशिक्षा एवं जड़ता से मुक्ति तथा स्वतन्त्रता के विचार का बीजारोपण किया। मॉरिशस यद्यपि आज़ाद 1968 में हुआ परन्तु 'दुर्गा' की हिन्दी पत्रकारिता ने उसकी नींव रख दी थी। पत्रकारिता कैसे लोकमानस को बदलती है, 'दुर्गा' हस्तलिखित पत्रिका इसका प्रमाण है। मॉरिशस इसके योगदान को सदैव याद रखेगा।

वैदिक संस्कृति से प्रभावित—प्राचीन ब्रिटेन में सूर्य उपासना एवं उसी से संबद्ध बेल-फायर उत्सव

राजीव रंजन उपाध्याय*

पुराकालीन ब्रिटेन में सूर्योपासना प्रचलित थी, इसकी चर्चा विगत शोध पत्र में की जा चुकी है।[1] इसकी अभिव्यक्ति, प्रस्तर खण्डों पर अंकित वृत्त और कप मार्क लिपि के माध्यम से की गई थी। यह फोनीशियन उद्‌भव की सूर्योपासना ब्रिटेन में पुराकाल में, पूर्णतः स्वीकृत एवं प्रचलित थी।

प्राचीन ब्रिटेन के शवाधानों से उत्खनित कंकालों के सर पूर्व दिशा में रखे गए थे। यह प्राचीन काल एवं ब्रांज युग-कास्य काल की प्रथा लौह युग में भी विद्यमान थी। इसकी चर्चा प्रख्यात ब्रिटिश रचनाकार शेक्सपियर ने अपनी कृति सिम्बेलाइन (Cymbeline) में इन शब्दों में की है—

We must lay his head to the east!

My father hath a sreason for it.[2]

इस सूर्योपासना के चिह्न अनेक प्रस्तर खण्डों-न्यूटन स्टोन आदि पर तथा गुफाओं में, ईसाई पंथ के पूर्व प्राप्त प्राचीन रोमन मुद्राओं पर, अवशेष रही बेल-फायर परम्परा में, सूर्योदय से जुड़ी डीजिल (Deazil) कृत्य जो सूर्य के पूर्व में उदय होने से जुड़ी थी, सेन्ट माइकेल माउण्ट-कार्नवाल से लेकर शीटलैण्ड तक व्याप्त थी।[3]

अपने वैदिक पूवर्जों की भाँति ही फोनीशियन धार्मिक थे। इसी कारण उनके प्रत्येक नगर में मन्दिर थे जहाँ पर सामान्यजन परमात्मा को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित

*प्रो. डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय, अध्यक्ष, भारतीय विज्ञान कथा लेखक समिति, फैजाबाद, सम्पादक, विज्ञान कथा, पताः विज्ञान परिसर कोठी काके बाबू देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001. (उत्तर प्रदेश) फोनः 05278-240176. मो. 9838382420, ई-मेल : rajeevranjan.fzd@gmail.com

करने आते थे। वे प्रमुखतः एकेश्वरवादी थे और इस ईश्वर के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि सूर्य को मानकर, उसकी उपासना करते थे।

इस सन्दर्भ में प्रोफेसर राउलिनसन (Rawlinson) ने अपनी विख्यात कृति History of Phoenicians में लिखा है कि अपने प्राचीन प्रस्थान बिन्दु, जो फारस की खाड़ी के समीप था, से चलकर भूमध्य सागरीय क्षेत्रों में व्याप्त होने की अवधि तक यह जन का निराकार ईश्वर के उपासक थे, इस अवधारणा की पुष्टि पुराकालीन मिस्र में ईश्वर की उपासना की अभिव्यक्ति से होती है, जिसको इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है– ''वह प्रस्तर प्रतिमा में नहीं है, वह अदृश्य है, वह कहाँ रहता है–ज्ञात नहीं, वह किसी मन्दिर तक सीमित नहीं है, वह अरूप है, उस निराकार की आकृति बनाना व्यर्थ है।''[3]

परन्तु समय प्रवाह के फलस्वरूप उस निराकार, अरूप ईश्वर के दर्शन उन्हें सूर्य में हुए और वे इसकी उपासना करने लगे। वह इनका ईश्वर बेल (Bel) बन गया। इसकी उपासना को उन्होंने जहाँ भी अपने को स्थापित किया, वहीं प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार उनके साथ लाई गई सूर्य की उपासना ब्रिटेन में अनुमानतः ई.पू. 2800 में प्रचलित हो गई थी।

देवि उषा की सूर्य से सम्बन्धित ऋग्वेद के मन्त्र उनकी शक्ति, महत्ता, गुणों और महिमा से परिपूर्ण है। (ऋ. 1.50.1-13) जिनकी ध्वनि पुराकालीन सुमेरियन और मिस्र की स्तुतियों में (Pslams) विद्यमान है। कप-मार्क चिह्न जो यूरोप और अन्य स्थानों पर मिले हैं–इसी सूर्य उपासना के अंश हैं।[1]

इसी सर्वत्र व्याप्त सर्वशक्तिमान ईश्वर की अवधारणा में कालान्तर में वैदिक सूर्य का रोपण इन्द्र में हो गया है और वे अपनी गति से सूर्य चक्र को भी गति देने लगे–''सूर्यस्चक्रं प्रवृहज्जात ओज स...'' (ऋ. 1.130.9)। वे हित्तो-सुमेरियन जनों के इन्द्ररू (Induru) और गोथों के इन्द्री (Indri) बन गये।

गोथों के प्रतिनिधि

पुराकथाओं में वैदिक देव पूजन के परिवर्तित बिम्ब के होने का प्रमाण है, जिसको वहाँ पुराकाल में प्रचलित वैदिक देव दूती सरमा के आख्यान से संबद्ध कर दिया गया था।[4] परन्तु वैदिक देव पूजन अनेक गुणों से विभूषित होने के साथ ''पशुमा'' हैं–अज उनका रथ खींचते हैं।[4] यहीं अज और मृग पूजन-सूर्य के[4] प्रतिनिधि बनकर गोथ जनों के आराध्य हो गये जिसको उन्होंने अपनी मुद्राओं पर अंकित किया है।[3]

सुमेरियन जनों के इन्द्ररू, जिन्हें उन्होंने सृष्टिकर्ता माना है (Creator) ही वैदिक इन्द्र हैं, जो सूर्य के उत्पत्ति कर्ता हैं (ऋ.3,5,1,4), सूर्य को आलोक युक्त करते हैं–इन्द्रः सूर्यमरो चयत (ऋ 8,3,6), वे सूर्य को उच्चाकाश में स्थापित करते हैं–इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोहयत् दिवि। (ऋ.1,7,6), वे पिता तुल्य आह्वानीय हैं (ऋ.

10,48,1), वे गहन अँधकार को सूर्य के प्रकाश से दूर करते हैं (ऋ.6,21,3),वे स्रोताओं के पालक हैं (ऋ.6,21,8), तथा इन्द्र ही सूर्य हैं—(ऋ.10,89,2)।

यह वैदिक एकैश्वरवाद की अवधारणा, एक फादर गॉड (Father God) परम पिता के रूप में सूर्य पूजा बनकर पुराकालीन सीरिया-फोनीसिया से लेकर पुराकालीन मिस्र तक व्याप्त हो गई। मिस्र में यह अवधारणा अर्थ सीरियन फराओ आखेन-आतेन (Akhen-Aten) से कुछ काल पूर्व प्रचलित होना प्रारम्भ हो गई थी। आखेन-आतेन जो कि प्रसिद्ध मिस्री महिला फराओ तुत-आँख-आमेन (Tut-Ankh-amen) का श्वसुर था, ने उस युग में मिस्र में प्रचलित भेड़ के सर युक्त देव आमोन-(Ammon) की उपासना[5] के स्थान पर परमेश्वर के प्रतीक सूर्य (Aten) आतेन की उपासना प्रचलित कराई। इसके फल स्वरूप उस फराओ का प्रबल विरोध हुआ था। उस समय फराओ की आयु मात्र 16 वर्ष की थी।

यह फराओ-आखेन आतेन एक मित्तानी-आर्य शाखा की (Mittani) रानी का प्रपौत्र तथा एक अन्य मित्तानीराज कुमारी का पति भी था। स्वाभाविक है कि उसका सूर्योपासना में रुचि अथवा विश्वास ही मिस्र में किंचित परिवर्तित रूप में सूर्य-उपासना प्रारम्भ करने का कारण था।

मिस्र के सूर्य उपासना के चित्रों में सूर्य राजा का पिता माना गया और उसकी कृपामय किरणें मानव हाथ के रूप में चित्रित की गईं; इसकी उपासना में गाई जाने जाने वाली प्रार्थना (Hyme) जो हिब्रुओं के पूर्वज डेविड (David) से अनुमानतः 300 वर्षों पूर्व की है, कालान्तर में यहूदियों की, 108-मास, Psalm, अथवा गेय-उपासना बन गई।[3]

ईश्वर की गेय उपासना जिसे साम (Psalm) कहा जाता है, क्या संस्कृत के साम शब्द से उत्पन्न नहीं हुई है? यह विचारणीय है।

ऋग्वेद का बहुचर्चित मन्त्र—

क इमं दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुमिः।
यदा वृजाणि जघंनदथैनं में पुनर्ददत।। ऋ.4,24,10

जिसका अर्थ है (क) कौन (इम) इस (मम) मेरे इन्द्र को (दशमिः) दस (धेनुमिः) गायों में (क्रीणाति) क्रय करेगा। (यदा) जब यह इन्द्र (वृत्राणि) शत्रुओं को (जघंनत) नष्ट कर दे (अथ) तो (एवं) इसे (में) मुझे (पुनः) फिर (ददत) दे दे।

यह मन्त्र इन्द्र के लिए उसकी स्तुति हेतु लिखा गया है। इस सूक्त के देवता इन्द्र हैं और ऋचाकार ऋषि वामदेव। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में ऋषि वामदेव द्वारा दृष्ट 32 सूक्त हैं, जिसमें 1 से 14 तक अग्नि देव को समर्पित हैं और शेष 16-32 तक इन्द्र को। ऋग्वेद के 4वें मण्डल के 18वें सूक्त में इन्द्र जन्म लेता है। परन्तु इसके पूर्व गर्भस्थ इन्द्र सोचता है कि वह सामान्य शिशुओं की भाँति जन्म नहीं लेना चाहता है (ऋ.4,18,2)। इस कारण इन्द्र की माँ का जीवन संकट में पड़ा जाता है। (ऋ.

4,15,9-10)। ऋषि वामदेव भी इन्द्र को सामान्य रूप से जन्म लेने के लिए समझाते हैं, परन्तु इन्द्र नहीं मानता। वह उत्पन्न होते ही वामदेव को युद्ध के लिए ललकारता है और उन दोनों में दस दिनों रातों तक युद्ध होता है। इस युद्ध में ऋषि वामदेव विजयी रहते हैं और पुनः ऋषि वामदेव इस इन्द्र को ऋषियों की संसद में ले जाकर उसे दस गायों पर बेचने के लिए प्रस्ताव रखते हैं।

इसके उपरान्त दोनों में संधि हो जाती है और 25 सूक्त के प्रथम मन्त्र में वह इन्द्र की स्तुति करते हैं (ऋ.4,25,1)।

वैदिक कालीन साहित्य में भौतिक पदार्थों का उल्लेख कभी-कभी देवताओं के प्रतीक के रूप में हुआ है, जैसे आयुधों का दिव्यीकरण। ऋग्वेद का 6,75 वाँ सूक्त धनुष, वाण, कवच, तूणीर की स्तुति में कहा गया है। इसी प्रकार अथर्ववेद का 5,20 सूक्त दुंदभि को सम्बोधित है। अतः हो सकता है कि उन ऋषियों का तात्पर्य प्रतिमा से रहा हो। उदाहरण के लिए जहाँ पर ऋषि वामदेव कहते हैं कि कौन मेरे इस इन्द्र को दस गायें देकर खरीदेगा और इन्द्र द्वारा उसके शत्रुओं के नाश के उपरान्त वह इस इन्द्र को मुझे पुनः वापस लौटा देगा—स्पष्टतः संकेत देता हैं कि यह इन्द्र की प्रतिमा रही होगी। वेदों में इस प्रकार की प्रतिमाएँ वर्णित हैं, परन्तु उस युग की इन्द्रादि की प्रतिमाएँ उत्खनन में प्राप्त नहीं हुई हैं।

इसके विपरीत सुमेर जनों द्वारा खचित प्रतिमाएँ चाहे वे मुद्राओं पर अंकित हों या पक्की मिट्टी की सीलों पर वैदिक जनों की इस कल्पना को साकार रूप देती हुई लगती हैं।

ईश्वर का प्रतिमा के रूप में मानवीकरण संभवतः सुमेरियनजनों और उन्हीं को विचारधारा से समानता रखने वाले अन्य वैदिक शाखा के जनों द्वारा राजा और ईश्वर के साकार और निराकार रूप के संयुक्तिकरण के प्रभाव के कारण हुआ होगा। यह तथ्य प्रारम्भिक सुमेरियन सीलों के निरीक्षण से तथा फोनीशियन प्रतिमाओं, सीलों और मुद्राओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

यही तथ्य बैबीलोनियन सीलों, मीडो-परशियन सीलों जो मित्र की उपासना से सम्बन्धित हैं (सीलों-मुद्राओं) के निरीक्षण से स्पष्ट हो जाता है। (चित्र-2)

परन्तु पुराकालीन ब्रिटेन की मुद्राओं पर ईश्वरीय आकृतियों के अंकन का अभाव सम्भावतः ईश्वर को व्यक्त न कर पाने में मानव शक्ति के अभाव की इंगित करता है तो सुमेरियन जनों की निम्न प्रार्थनाओं में निहित है—

हे इन्द्रारू! क्या कोई तुम्हारे मूर्त स्वरूप की कल्पना कर सकता है।

हे सूर्य देव! क्या तुम्हारा कोई रूप है!

एस लांगडोन द्वारा अनुवादित-सुमेरियन-साम-77 से[3] जिसमें इआ (Ea) शब्द द्वारा सूर्य को सम्बोधित किया गया है। इसके विपरीत फोनीशियनों द्वारा हेरक्यूलिस की प्रतिमा का निर्माण किया जाता था, क्योंकि हेराडोटस के अनुसार, वह उनके

नायक (Hero) का प्रतिबिम्ब था, ठीक उसी प्रकार जैसे ईसाई पंथ के हीरो सेण्ट जार्ज बना दिये गये थे।

फोनीशियन जन अपने इन आकृतियों के साथ नावों पर हिरोडोटस के अनुसार पाताई कोई (Pataikoi) छोटे कुबड़े जनों की आकृतियाँ भी लगाते थे। यह ग्रीक वलकन (Vulcan) के प्रतिरूप थे और यह उच्चारण के परिवर्तन के फल स्वरूप मिस्र के देव परिवार का सदस्य (Ptah) पाताह (लौहकर्मी-लोहार) हो गया।[5]

यह विदित है कि फोनीशियन जन देवि बाराती अथवा ब्रिटानिया के चित्र अपनी मुद्राओं और अन्य स्थलों पर उत्कीर्ण करते थे, क्योंकि वह उनकी सुरक्षा प्रदाता थी। वह ईश्वर नहीं थी।

बेल (Bel) अथवा बिल (Bil) शब्द का प्रयोग इन लोगों ने सूर्य को व्यक्त करने के लिए किया था। यह तथ्य न्यूटन-स्टोन और ब्रिटेन में प्रयोग की जाने वाली गूढ़ लिपि ओगाम (ओगाम लिपि) के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। ओगाम लिपि में यह B-L शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता था।[6] जो ब्रिटेन में बेल-फायर (Bel Fire) उत्सव के रूप में मनाया जाता था।[3]

वास्तव में शब्द बिल अथवा Bel शब्द को घषर्ण से अग्नि उत्पन्न करने वाली शाखाओं के माध्यम से, अथवा मशाल से, सुमेरियन भाषा में व्यक्त किया गया है। यह शब्द सूर्य का द्योतक था, जो बेबीलोनिया-निपुर (Nippur) के मन्दिर में विराजमान था।

यही सूर्य द्योतक शब्द सेमेटिकों और इज़रायली पूर्वजों द्वारा जिवोहवा (Jehova) के लिए प्रयोग किया जाने लगा था। इस सन्दर्भ में एक प्रख्यात सेमेटिक विद्वान ने लिखा है–

"Jahweh (Jehovah) assumes the attributes of BAAL, and the BAAL of Cannites-the pre-lsraelites people of phoenicia Palestine,we know were personification of the sun"3 यह सूर्य अग्नि का प्रतीक बनकर बाईबिल के इक्सोडस (Exodus 3,2-18-19) ईसा (Isaiah) 6-4; इजेक (Ezek) 1-4 देउट (Deut) 4-24; में व्यक्त हुआ है।[7]

कैनान (Cannan) क्षेत्र के वासी सेमिटिक जनों ने अपने अधिपति आर्य परम्परा के नृपों से[8] सूर्योपासना तो ग्रहण करली, परन्तु उसमें नरमेघ, शिशुमेघ, आदि अमानवीय कृत्यों द्वारा कुत्सित कर दिया।[9] यहीं परम्परा कालान्तर में इस्लाम में क़ुर्बानी के रूप में प्रचलित हुई।

बेल-फायर (Bel-fire) या (Bel-tane) बेलटने कृत्य और इससे सम्बन्धित क्रीड़ाएँ, बैडेल के अनुसार ब्रिटिश द्वीप में सेन्ट मोईकेल माउण्ट जो कार्यवाल में स्थित है से लेकर शेट लैण्ड तक व्याप्त थीं। यह उत्सव ग्रीष्म ऋतु में, 29 जून के समीप मनाया जाता था।[3]

परन्तु अब यह मात्र एक सांकेतिक उत्सव हो गया है। सरिता विशेष के समीप एक वृत्त बनाकर युवाजन उसके चर्तुदिक नृत्य करते हैं और उस वृत्त के मध्य में अग्नि

जलती रहती है। इस उत्सव में कुछ लोग अपने हाथों में मशाल जलाकर उसे अपने सर के चर्तुदिक घुमाते हुए भी नृत्य करते हैं। यह नृत्य सूर्य की दिशा को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन एस.लाइंग (S.Laing) की पुस्तक में उपलब्ध है।[10]

इस प्रकार से प्रज्ज्वलित अग्नि कार्नवाल, डोरसेट और यार्क के चर्चों में विद्यमान रहती थी। क्योंकि इस परम्परा का पालन ब्रिटेन में प्रारम्भिक शताब्दी में ईसाई पंथ के प्रसार के साथ प्रचलित था। परन्तु कुछ समय के उपरान्त शाखाओं घषर्ण से अग्नि उत्पन्न करने की प्रथा को ईसाइयों द्वारा प्रतिबधित कर, अग्नि को फ्लिन्ट पत्थर और लौह को रगड़कर उत्पन्न करने की प्रथा को प्रचारित किया गया तथा इसे ग्रीष्म निपात का उत्सव ईस्टर दिवस (Ester-day) पर मनाने पर ज़ोर दिया गया। परन्तु कुछ चर्चों और अन्य जनों में प्राचीन शाखाओं के घषर्ण से अग्नि-प्रज्ज्वलित करने की प्रथा चलती रही।[11]

इस उत्सव को ईस्टर-दिवस पर प्रारम्भ करने का मन्तव्य ब्रिटेन के सूर्य-पूजकों को ईसाई बनाना था (Proselytizing) और इसके लिए सेन्ट जॉन-द बापटिस्ट का सहारा लिया गया। सेन्ट जॉन (Saint-John) चित्रों में अग्नि की भाँति प्रकाशमान क्रास लिए चित्रित किया जाने लगा, जबकि उसका पिता सूर्य मन्दिर में अग्नि में सुगन्धित पदार्थों को डालता हुआ वर्णित है। (Luke ल्युक, 1.9) और पुनः वह बाइबिल में Wit-ness of the Light के रूप में वर्णित है (John,1,7)[7]। यह बेल फायर उत्सव कथित सेन्ट-जॉन के दिवस 24 जून को मनाया जाने लगा।

यह स्वतः स्पष्ट है कि जॉन द बापटिस्ट प्रारम्भ से सूर्य पूजक था, वह सेमेटिक न होकर हित्तो-फोनीशियन रक्त का था उसका बॉटिज्म (Baptism) नामकरण-शुद्धिकरण यहूदी धर्म ग्रन्थों में कहीं वर्णित नहीं है।

संभवतः जॉन का वैप्टाइजेशन ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा निर्मित एक कपोल कल्पना रही हो।[3]

तथ्यतः जल से पवित्र करने की परम्परा विशुद्ध परम्परा है जो आज भी इस देश भारत में उपासना के पूर्व प्रचलित है। यहीं परम्परा प्राचीन सुमेरियनों में विद्यमान थी तथा इसका वर्णन गोथों के धर्मग्रन्थ इदा में है। जल द्वारा शुद्धिकरण के गोथिक भाषा में स्कीरी (Skiri) कहा जाता था, जो कि सुमेरियनों द्वारा साखर (Sakhar) कहा जाता था।

सुमेरियन नृपों की वंशावली जो 3100 ई.पू. से प्रारम्भ हुई थी। इन का राजा स्वास्तिक लेकर अपने को अग्नि पूजक कहकर अपने द्वारा निर्मित कराये गये प्रत्येक मन्दिर में प्रसाद (Abzu-banda) चढ़ाता था।[12]

सुमेर सम्राट सारगौन प्रथम (2800 ई.पू.) ने स्वास्तिक धारण कर अपने को पवित्र जल से अभिषेक करने (Water-Libator) वाला श्रेष्ठ उपासक पुरोहित कहा

था। यह ईश्वर का भक्त (Nu-iz-sir) नाजिर (Nazir) तथा उसका साखार (Sakhar) उपासक, कहा गया है।

जॉन-द-वापटिस्ट नाजिर (Nazir) भक्त था (ल्यूक, 1,15)[3]। इसको आइसलैण्ड के ईसाई-गोथों द्वारा स्कीरी-जॉन कहकर सम्बोधित किया जाता था।

इसी प्रकार जल द्वारा शुद्धिवकरण का दिवस स्काटलैण्ड के राजा जेम्स षष्टम् के समय के स्कीरी-बृहस्पतिवार (Skiri-Thursday) कहा जाता था।[3]

पुराकालीन तथ्यों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जॉन-द-बापटिस्ट (Baptist) का पिता सूर्य मूर्ति पूजक था, जो मन्दिरों में धूप-सा पदार्थ अग्नि में डाल का प्रार्थना करता था। इसको (Abia) आविआ कहा जाता था। वास्तव में अब (Ab), सीरियो-चाल्डियन कैलेण्डर का पाँचवां मास होता था और इस मास में अग्नि-देव सूर्य और (Bel) की उपासना की जाती थी। सुमेरियन भाषा में यह मास बिल-का मास (Month of Bil) अथवा गी-बिल (Gi-Bil) कहा जाता था। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ईसाई पंथ का देवदूत गॉवरिल (Gabril) इसी परम्परा का परिवर्तित रूप है जो गीबिल (Gi-Bil) से गॉबिरल बना दिया गया। इसी प्रकार यहूदियों और इस्लामियों का शब्द जखारिया भी सुमेर शब्द साखार का (Sakhar) अग्नि पूजक उपासक का अपभ्रंश है।[3]

एन्साइक्लोपीडिया-ब्रिटेनिका के अनुसार देवदूत गॉबरिल, कुरान का फ़रिश्ता जब्राइल (Jabra-il) और हित्तो-सुमेरिन जनों का अन्न-प्रदाता (Corn-Spirit) तास-मीकाल (Ta-Mikal) अथवा तास-अप कुरान वर्णित फ़रिश्ता मीकाल है।

येरूशलम के माउन्ट मोरिआह (Mt.Moridah) में मूर्ति पूजकों की उपस्थिति, इसके मोराइट्स (Moraits) अथवा Amorites-अमोराइटों का उपासना स्थल होने के कारण, से थी।[13] डेविड के द्वारा येरूशलम पर अधिपत्य स्थापित करने के पूर्व यह स्थल हित्तियों और मोराइट जनों का उपासना स्थल-सूर्य मन्दिर था। बाईबिल में इजेकील कहना है। ''येरूशलम तुम्हारा पिता अमोराइट और माता एक हित्ती थी।[14]

येरूशलम जो हिब्रू जनों द्वारा येरूशलम (Iruslum) कहा जाता था, अपने उससे पुराने नाम, इसके हित्ती नृप (1375 ई.पू.) द्वारा ऊरूशालिम (Urusalim) कह कर अमराना लेटरस में चर्चित है। इन अमराना-लेटरस जो टैबलेट्स हैं पकी मिट्टी की और उन पर अंकित लिपि में इसे '' द सिटी ऑफ युरूसालिम, द सिअी ऑफ टेम्पल ऑफ सन गॉड-निन-इब-उ-सू (Ninib-u-su)'' यह टेबलेटों पर अंकित सूचना यहूदी नृप डेविड से 300 वर्ष पूर्व की है।

पुनः इन में यहूदियों को ईबुस कहकर सम्बोधित किया गया है—"Al Mut u-ru-sa-lin-uki-al Bidan Nin-u-le-su-mu..." जो इजराइल के प्राचीन वासी थे। यहीं ओल्डटेस्टामेन्ट के Jebusis हैं जो कालान्तर में हिब्रू कहे जाने लगे।

एक अन्य अमराना टेबलेट में पंख युक्त सूर्य देव को lb-u-su कहा गया है। इसका अर्थ सूर्य देव जो पंख युक्त हैं, उनका उपासक। यह जेसुइट जन कासी

बैबोलीनियन नृपों के रक्त सम्बन्धी करते थे। इस शब्द का अर्थ सुमेरिन भाषा में वीर मानव अथवा हीरो होता है। इसी इरीखी शब्द का पूर्वज संस्कृत का वीर (Vir) है जिसे ग्रीक भाषा का Eros, एवं लैटिन का वीर (Vir) गोथिक का Ver, anglo-saxen का Were (बेर) और अँग्रेजी का Hero शब्द बना है—जो सूर्य की उपासना से सम्बन्धित शब्द था।

मिस्र के फरोओ (Aken-Aten) को, येरूशलम के हित्ती अथवा जेसुइट नृप जो अपने को सूर्य मूर्तिपूजक इरीखी (Erikhi) कहता था, ने फराओ Aken-Aten को सूर्य पुत्र (Son of Sun) और सूर्य उपासक The great Bil-Fire torch कहा है।[15] येरूशलम का यह हित्तीराजा मिस्र के फराओ का करद था।[15]

माउण्ट मोरिआह (Mt. Moriah) के सूर्य मन्दिर और उसके परिसर पर 1012 ई.पू. में जेसुइटों, हित्तीयों और आमोराइत (Amorites) जो पैलेस्ताइन क्षेत्र में व्याप्त थे, के द्वारा अधिकृत किया गया था। अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व (1015 ई.पू.) किंग डेविड (King David) ने इसके बाहरी परिसार को येरूशलम के जेसुइट राजा से क्रय किया था और वहीं पर बलिदान हेतु एक चबूतरे का निर्माण कराया था। (2-Samuel, 22, 16-25) जहाँ पर देवदूत आते थे।

यहाँ पर यह ध्यान देने वाला तथ्य है कि सूर्य-देव (Sun-God) - Nin-ib-is का स्वरूप Tas तास है जो हित्तो-सुमेरियन उद्भव का है और यहीं फोनीशियानों द्वारा ब्रिटिश अभिलेखों एवं मुद्राओं पर तासिआ (Tascia) अथवा-कार्न स्पिरिट (मक्का) (अन्न प्रदाता)। प्रदाता के रूप में भी व्यक्त किया गया है।

पुनः बाइबिल के साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इजरायली जनों के पूर्व, यहूदियों के पूर्व, माउण्ट मोरिआह (Mt.Moriah) पर सूर्य मन्दिर विद्यमान था। इजरायली राजा डेविड जो हित्तियों के अधीन था, देव दूत के प्रकट होने से भयभीत रहा करता था—यह देवदूत हित्तियों की मान्यता का तासिया था। सूर्य का स्वरूप था।[3]

माउण्ट मोरिआह (Mt.Moriah) पर जिस मन्दिर का निर्माण कार्य सोलोमॉन ने प्रारम्भ कराया था, वह वास्तव में हित्तियों का वहीं प्राचीन सूर्य मन्दिर था जो Bil अथवा Bel के नाम से स्मृत है। इस निर्माण कार्य में सोलमन (Solomon) की सहायता तीरे (Tyre) स्थित फोनीशियनों ने की थी। इस सूर्य मन्दिर में प्राचीन इजरायली जनों के पूर्वज रहते थे, उनका उस मन्दिर पर आधिपत्य था और उन्हें जूड़ा के वंशज (यहूदी) हटा नहीं सके थे। बाईबिल स्पष्टतः कहती है कि "The children of Judah could not drive than out. but jebusites dwell with the Children of Judah unto this day"[16]

इजरायली राजा सोलोमॉन द्वारा पुनर्निर्मित बेल (Bel) के मन्दिर के स्तम्भ विशुद्ध फोनीशियन स्थापत्य के थे, तथा इसके शुद्धिकरण के संदर्भ बाईबिल कहती

है यह कृत्य "Fire From Heaven" द्वारा किया गया था।[17] इन मन्दिर में सूर्य की प्रतिमा तथा सूर्य के अश्व की प्रतिमाएँ स्थापित थीं; जिनकी पूजा इस मन्दिर के 580 ई.पू. में नष्ट हो जाने के बाद तक प्रचलित रही।[18]

इजराइली राजा सोलोमॉन ने (Bel) को (Baal) कहना प्रारम्भ किया और उसके साथ इहवाह (Iahvah) की उपासना प्रारम्भ की। यह इजरायली जनों का कालान्तर का जेहोवाह (Jehovah) है।

सोलोमॉन ने विशाल फोनीशियन स्थापत्य के स्तम्भों का निर्माण इस सूर्य मन्दिर में कराया था उसे वह फोनीशियन नाम "Buz-lakin" कहता था, इन्हीं सुन्दर स्तम्भों की चर्चा हीरोडोटीस (Herodotees) ने की है।[19] सूर्य रूपी बॉल (Baal) की उपासना इजरायली क्षेत्र में प्रचलित हो गई थी। परन्तु इसके उपरान्त भी सूर्य को (Bel) बेल के रूप में प्राचीन प्रार्थना इस मन्दिर के गर्भगृह में प्रचलित रही। बाईबिल इस सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहती है—"In the inner court is the lord's house at the door of the temple of lord, between the porch and th altar, were about five and twenty men, with their backs of the temple of the lord and their faces towards the east and they worshipped the sun towards east," ।[20]

यहाँ पर यह इंगित करना आवश्यक है कि इस मन्दिर के गर्भ-गृह में स्थापित सूर्य की उपासना फोनीशियनों की विधि से होती थी तथा मन्दिर के प्रवेश द्वार के पहले सोलोमॉन द्वारा निर्मित पोर्च की बेदी पर मंजूषा रहती थी, जिस पर इजराइली यहूदी जन रक्त, माँस आदि चढ़ाते, बलिदान करते थे।[3]

मन्दिर के लिए व्यवहृत अँग्रेजी के शब्द Temple और उसके समानार्थी हिब्रू एवं ग्रीक भाषा के शब्दों के सन्दर्भ में बैडेल की इसी पुस्तक का पृष्ठ 278 तथा मन्दिर और प्रतिमा-प्रतिरूप के विवरण हेतु नवरत्न राजाराम एवं डेविड फ्राउले की पुस्तक ''वैदिक आयर्निस एण्ड द ओरीजिनसऑफ सिविलाइजेशन-चतुर्थ संस्करण का पृष्ठ 387-395 दृष्टव्य है।

इजकेल इसी संदर्भ में कहता है—"The door of the inner court, where was the seat of the image which provoked jealousy" और इस प्रतिमा को वह फोनीशियन प्रचलित नाम मेल क्वार्रट और रोसेफ (Melquare and Resef) जो तासिया-सूर्य का नाम है, से सम्बोधित करता है। यह सूर्य की इस प्रतिमा को प्रणाम, (Salmu) करता है। यह सुमेरियन भाषा का प्रणाम सूचक (Salam) शब्द है जो आज भी हिब्रू में शलोम और अरबी भाषा में सलाम के रूप में व्यवहृत हो रहा है।

वैदिक अनुशाखा के ईरानी-पार्स नृप (परिशया के सम्राट) कुरुष द्वितीय ने इस सूर्य मन्दिर का पुनर्निर्माण 535 ई.पू. में कराया था,[29] परन्तु उसने जिवा (Jahvh) की उपासना प्रतिबन्धित नहीं की और उसी के साथ गर्भगृह में बेल-सूर्य की उपासना भी अनवरत चलती रही।

कालान्तर में रोमन सम्राट एण्टीओकस (Antiochus) ने 250 ई.पू. के समीप इस मन्दिर में ज्यूपिटर का चबूतरा निर्मित कराया। इस मन्दिर में पुनर्निर्माण हीरोद (Herod) द्वारा 62-64 ई. में कराया गया था।[19] यही समय था जब जीजस ने अपने धर्म के प्रचार को स्वरूप देना प्रारम्भ किया था। परन्तु इस मन्दिर के गर्भगृह में सूर्य की मूर्ति विद्यमान थी और इसी स्थल पर जॉन द वापटिस्ट (Baptist) सुगन्धित द्रव्य अग्नि में डाल कर उपासना करता था। जिसे (Abia) आबिआ कहा जाता था।

इस प्रकार सूर्य मन्दिर के गर्भगृह के चतुर्दिक विस्तार होता गया और सभी धर्मो के अनुयायी अपने-अपने उपासना-बलिदान स्थल पर अपनी श्रद्धानुसार कार्य सम्पादित करते थे। परन्तु प्राचीन मन्दिर में उपासना का कार्य पुरोहित करते और सामान्य जन बाहरी परिसर में अपने धार्मिक कृत्य करते रहते थे।

इसी बृहद परिसर में किंग डेविड ने घोषणा की थी For a day in the eourt is better tham a thousand (Psalm of David देखें-बाईबिल)।

यहाँ पर यह इंगित करना आवश्यक है कि इस बृहद परिसर के उत्तरी द्वार से सूर्य के उपासक फोनीशियन जन ही प्रवेश करते थे और इसी द्वार को Gate of spark कहा जाता था;[19] और संभवतः इसी द्वार से प्रविष्ट होकर जॉन द वॉटिस्ट का पिता अग्नि से सुगन्धि डालकर सूर्य की उपासना करता था।[3,22]

जॉन द बैपटिस्ट द्वारा उठाया गया क्रास वास्तव में सूर्य का प्रतीक था। यही सूर्य निन-इब (Nin-ib) जो येरूशलम में विराजमान था। सूर्य क्रास को सुमेरियन भाषा में God of Cross तथा पेण्ट जार्ज की भाँति के क्रास (Red Cross) को, इसी भाषा में Wood Sceptare तथा फायर (Fire) और Fire god भी कहा जाता था। सुमेरियन भाषा के बार (Bar) अथवा Mas (मास) का अर्थ Gi-Bil या महान् अग्नि होता है। बारू (Baru) का अर्थ सुमेरियन में पुरोहित या पुजारी (Priest) होता है। वे सुमेरियन पुरोहित बार (Bar) अथवा लकड़ी का क्रास स्वास्तिक लेकर चलते थे। येरूशलम को अरब-आक्रान्ताओं ये मुक्त कराने हेतु, अपनी प्राचीन सूर्य उपासना और प्रतिमा के सरंक्षण हेतु सैनिक यूथ पति सेन्ट जॉर्ज के लाल रंग के दीप्त क्रास को हाथ में उठाकर चलते थे। यह उनका ध्वज-प्रतीक था।

''इसी कारण जीजस जो कि यहूदी नहीं थे, अपने भाषण को सुनने वालों तथा शिष्यों से कहते थे क्रास (स्वास्तिक) उठाकर मेरा अनुसरण करो।''[23]

यहाँ पर इंगित करना आवश्यक है कि ग्रीक भाषा की बाईबिल में क्रास के लिए (Stauras) शब्द का प्रयोग किया गया है। यह लकड़ी का दण्ड, बज्र के अर्थ में प्रयोग होता है। गोथिक में इसे (Stafr) (दण्ड) तथा संस्कृत में (Stavara) कहा जाता है, जिसका अर्थ पंखयुक्त देव जो रक्ताभ सूर्य क्रास धारण करता है।[3] यह रक्ताभ सूर्य क्रास जो लाल रंग से रंग दिया जाता था, हित्ती-फोनीशनों के येरूशलम स्थित सूर्य मन्दिर में विद्यमान था तथा इसी की अनुकृति लेकर जॉन-द-बापटिस्ट (John the

Baptist) ने जीजस को बैपटाइज पवित्र जलसे शुद्ध कर, दीक्षित किया था। यह कृत्य अग्नि को साक्षी बनाकर किया गया था—"I indeed baptize you with water unto repenternce but he that cometh after me is mightier then I, whose shoe I am not warthy to bear, he shall baptize you with the holy ghost and with fire."[24]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य-क्रास धारी जॉन-द-वैपटिस्ट और उसका अग्नि पूजक (Zacharias) जाखारिआस पिता तथा मूर्ति पूजक जनों के साथ गैलीली (Gailili) में रहने वाले जीजस-सूर्य के उपासक थे। सूर्य के प्रतीक क्रास के एवं स्वास्तिक के उपासक थे। उनका आराध्य येरूशलम के मन्दिर में विद्यमान सूर्य था।

अवैदिक, अमानुषिक, घोर कृत्य करने वाले यहूदी जनों ने[9] इसी कारण जीजस, इनके पिता जॉन द-वैप्टिस्ट तथा अन्य अनुयायियों को एक (T) के आकार के स्तम्भ पर लोहे की कीलों से जड़ दिया था।

यहूदियों के इस प्रकार के स्तम्भ को जिसका लम्बा सिर भूमि में गहराई से दबा दिया जाता था, वे (T) टी-क्रास कहते थे। इस प्रकार के स्तम्भ से वे सर्प दंश का उपचार और अन्य प्रकार के तन्त्र-मन्त्र के लिए करते थे। यहूदी टी-क्रास का उल्लेख बाईबिल के अध्याय ऐजेकिल (Ezekiel) 9,4-6 में वर्णित है।

जीजस को इस प्रकार मृत्यु दण्ड देने का कारण था उनका सूर्योपासक होना। यह यहूदियों द्वारा लिया गया प्रतिशोध था।[3]

इस प्रकार के टी-क्रास के प्रयोग के पीछे संभवतः यहूदियों की सूर्योपासना से विद्वेष का कारण रहा हो। परिणाम स्वरूप उन्होंने सूर्य चक्र की गति को प्रदर्शित करने वाले वैदिक स्वस्तिक की मुड़ी भुजाओं और शीर्षभाग को विच्छिन्न कर अपने तन्त्र-मन्त्र में प्रयोग होते रहे (T) क्रास का उपयोग जीजस को मृत्यु दण्ड देने के लिए किया हो। यहीं पर यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि बालक जीजस को लेकर उनके माता-पिता ने मिस्र के सूर्य मन्दिर जो हेलियोपोलिस में था[25] (Helipolis) में शरण ली थी। स्वतः हेलियोपोलिस का अर्थ सूर्य नगरी होता है। ग्रीक भाषा में हेलिओस जो संस्कृत हेलि से उद्भूत है—सूर्य वाची शब्द है। इस स्थल (The House of the Phoenix) पर सूर्य पक्षी (Phoenix) गरुड़ आता था जो फोनीशियनों और पुराकालीन मिस्र के लोगों का आराध्य सा था।[25] संभवतः वह सूर्य का प्रतिनिधि और देवदूत माना जाता रहा हो।

जीजस की माँ (Virgin Mary) ऐलिजावेथ की भतीजी (Cousin) थी। ऐलिजाबेथ, जॉन-द-बापटिस्ट की माता[26] तथा आरोन (Aaron) की पुत्री थी। बैडेल के अनुसार यह नाम आरोन येरूशलम में सामान्यतः सूर्य-पुरोहितों के लिए प्रयोग किया जाता था। बाईबिल के प्राचीन संस्करणों में यह नाम नहीं है, उसके स्थान पर अहरन (Ahrn) नाम मिलता है। सम्भव है इस शब्द को आरान बनाकर बाद में बाईबिल के संस्करणों

में डाल दिया गया हो। तथ्यतः जेसुइट राजा (Jebusite King) जो सूर्य पूजक थे हिब्रू भाषा में Arun, Arunh या Arnih लिखे जाते थे। इसी कारण ऐलिजावेथ जिसको Aaron की पुत्री कहा गया है, वह Araundh की पुत्री रही हो तथा यह नाम संस्कृत के अरुणाभ (Arunabh) के समीप है जो सूर्य का नाम है।

स्वाभाविक है कि पुरा प्रथा के अनुरूप राज पुत्र होने के कारण जीजस को भी राजा माना गया हो येरूशलम का, जो यहूदी जनों को स्वीकार न रहा हो। यह उनको यहूदियों द्वारा टी-क्रास पर चढ़ाने का यह दूसरा प्रमुख कारण रहा हो।

इन्टरनेट और अनेक स्थानों पर जीजस के खतना (Circumcision) की चर्चा कालान्तर में उन्हें यहूदी सिद्ध करने के उद्देश्य से की गई है, जो प्रक्षिप्त है। जीजस यहूदी नहीं थे।[3]

जीजस ने अपने शिष्यों को गैलीली क्षेत्र से चुना था, यह सभी सूर्य उपासक थे। क्योंकि जॉन-द-बाप्टिस्ट (John the baptist) के पिता (Zacharias)— जखारियास भी सूर्य उपासक (Bel-Fire Priest) थे।[3]

आज भी इसी सूर्य उपासना की वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुए कैथोलिक ईसाइयों के धर्म गुरु पोप अपना दोनों हाथों को जोड़कर अभिवादन करते है, ग़रीबों, दुःखी-जनों का पैर धोते हैं। यह पाद-प्रक्षालन की भारतीय परम्परा का प्रतिबिम्ब है तथा धूप दिखा कर देव पूजा (सूर्य) का परिवर्तित स्वरूप, उनके द्वारा पात्र में रखे सुगन्धित धूप को चतुर्दिक घुमाना जो पुरातन भारतीय पूजा विधान का अंश है।

आज जिस माउण्ट मोरिआह (Mt.Moriah) पर हित्ती फोनीशियन सूर्य मन्दिर था वहाँ पर इस्लाम की पवित्र मस्जिद-अल-अक्सा विद्यमान है।[27] (चित्र-3)।

इस मस्जिद और समीप स्थित वेलिंग-वाल को इन पंक्तियों के लेखक ने 1978 में अपने वाइज मान इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज-रिहोबोथ, इजराइल के प्रवास काल में तेल अवीव-येरूशलम जाकर कई बार देखा है।

इस प्रकरण को यहीं विराम देते हुए अब ब्रिटेन में बेल-फायर उत्सव के विषय में चर्चा करना अभीष्ट है।

ब्रिटेन की कॉर्नवाल (Cornwall) नाम स्थान पर स्थित टिन-की खानों से फोनीशियनों और हित्ती सम्राटों के लिए टिन-जस्ता अयस्क के रूप में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते थे। इसी कारण प्राचीन रोमन जन इस पत्तन के समीपस्थ क्षेत्र को बेलेरियम (Belerium) कहते थे। वैसे सामान्य ब्रिटिश लोग इसे कॉर्नवाल के नाम से ही सम्बोधित करते थे। इस टिन-पोंट के समीप स्थित ऊँची चोटी के पर्वत को आज सेन्ट माइकेल माउण्ट कहा जाता है, परन्तु प्राचीन ब्रिटिश जन इसे दिन-सोल (Din-Sol) कहते थे। दिन (Din) शब्द दुर्ग का सूचक है और सोल शब्द जो कोर्ननिश, गोथिक, लैटिन भाषाओं में सूर्य बोधक है, संस्कृत के सूर्य और सुमेरियन भाषा के ज़ाल (Zal) शब्द का परिवर्तित रूप है।

कार्नवाल के टिन (जस्ता) की खानों का क्षेत्र एक लम्बे लकड़ी के खम्भे से चिह्नित किया जाता था, जिसके ऊपर घास-फूस-बाँध दी जाती थी और सेन्ट जॉन की स्मृति दिवस के अवसर पर इस पर पुष्प चढ़ाकर आग जलाकर लोग नृत्य करते थे।

इसी भाँति ब्रिटेन और स्काटलैण्ट में बिखरे हुए स्टोन सर्किलों (Stone Cireles) में जो फोनीशियनों द्वारा सूर्य की गति के अध्ययन हेतु बनाए गए थे, के भीतर लोग पवित्र अग्नि को जलाकर उत्सव मनाते थे।[28]

इसी प्रकार के उत्सव के अवसर पर कम मार्क युक्त प्रस्तर स्तम्भों जो फोनीशियनों द्वारा लगाए गए थे, के चारों ओर आग जलाकर लोग नृत्य करते थे।[29]

हेब्राड्स (Hebrides) द्वीप समूह में डेसिल (Dessile) नामक सूर्य उत्सव में प्रत्येक गृहपति अपना अन्न एकत्र करने के उपरान्त उसी घर का एक व्यक्ति अपने दाहिने हाथ में अग्नि लेकर पूर्व से पश्चिम अपने घर के चतुर्दिक घूमता था, प्रदक्षिणा करता था, यह सूर्य के पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त होने के नियमों का पालन करना था।[30]

सूर्य उपासना की भाँति ही ब्रिटेन के पुराकालीन मुद्राओं पर सूर्य-संकेत-चिह्न, चित्र अंकित मिलते हैं। यह मुद्राएँ रोमनों की पूर्ववर्ती तथा ईसाई धर्म के प्रवेश के पूर्व की है।

यह चिह्न वृत्त, कप मार्क, चक्र, अश्व, और अश्वरोही, गरुड़, हंस, तथा कभी-कभी चक्रीय-वृत्त-स्पाइरल आदि होते हैं।

वृत्त सूर्य चक्र के गति द्योतक संकेत हैं जो सुमेरियन उद्भव के हैं।[29] चित्र-4 में प्रदर्शित सूर्य अश्व के ऊपर बहुकोणीय सूर्य, उसके सम्मुख सूर्य जो स्वस्तिक का संक्षिप्तीकरण है, उसके पृष्ठ भाग पर बहुचक्रीय वृत्त तथा अश्व के मुँह और पेट के नीचे कप मार्क इसे पंख युक्त गतिमान सूर्य-अश्व घोषित करते हैं। यह अश्व सूर्य अस्त के द्वार को पार करता दिखाया गया है।

(b) में पंख युक्त सूर्य अश्व विभिन्न सौर्य संकेतों के साथ उकेरा गया है।

(c) में अनेक कप मार्क जो सूर्य के बोधक हैं, AESV अंकित-अश्व (संस्कृत) इस मुद्रा पर अंकित है।

(d) में सूर्य चक्र और विपरीतक्रम में अंकित चक्र (Spiral) जो अस्तगामी सूर्य के बोधक हैं, इस अश्व के साथ अंकित हैं।

(e) में पश्चिम की ओर जाता सूर्य विपरीत क्रम में चक्रीय वृत्त वाम मार्ग गति प्रदर्शित करता सूर्य चक्र, अश्व के साथ अंकित किया गया है।

(f) में स्वस्तिक और अनेक वृत्त युक्त चक्रों को साथ चित्रित सूर्य अश्व, स्पष्ट है।

(g) में, सूर्य के साथ बन्धन में सूर्याश्व प्रदर्शित है।

(h) में विपरीत दिशा में गतिमान दो मुखधारी गरुड़ (Phoenix) जो अस्त होकर पुनः उदय होते सूर्य को दर्शाता है, इस मुद्रा पर अंकित है।

(i) में सूर्य चक्र और उससे बँधा सूर्य अश्व प्रदर्शित है।

इन मुद्राओं पर अंकित अश्व, गरुड़ अज, हिरण हंस आदि सभी सूर्य की गति से सम्बन्धित हैं; इसी सन्दर्भ को ऋग्वेद के मन्त्र स्पष्ट रूप दे देते हैं।[39]

इन मन्त्रों में आश्विनि जो सूर्य सम प्रभावान हैं, मन्त्रों में हिरण, अज, हंस श्येन आदि की भाँति गति से आकर सोमपान करने हेतु आमन्त्रित हैं। ऋग्वेद में देव पूषन को सूर्य कहा गया है।[2] पुनः एक अन्य मन्त्र में (1,184,3) आश्विन को पूषन कहा गया है। यह रथारूढ़ होकर सूर्योदय के पूर्व उषा का पथ प्रशस्त करते हैं। इसी कारण सूर्य आश्विन भी हैं और देव पूषन भी। यहीं कारण है कि इन मुद्राओं पर आश्विन के रूप में अंकित होते हुए यह सूर्य का स्वरूप है।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि फोनीशियन जन जो भारतीय द्रुहन शाखा के थे, उन्हें ऋग्वेद के मन्त्रों का स्मरण किसी न किसी रूप में, हित्तियों की भाँति, अवश्य था। यह इस वैदिक बिम्ब को चित्र-6 मुद्राओं पर अंकित कर मूर्त रूप देने का प्रयास वैदिक अवधारणा-सूर्योपासना का उस काल के ब्रिटिश-प्रायः द्वीप पर, प्रचलित होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इसी प्रकार सूर्य अश्व का इन मुद्राओं पर अंकन प्रारम्भिक सुमेरियन सीलों पर नहीं मिलता। परन्तु उसके स्थान पर गरुड़ अथवा श्येन का चित्रण हुआ है। कालान्तर में यह फोनीशियनों की कार्थेज और सिसली से प्राप्त मुद्राओं अंकित हुआ है। यहाँ यह कभी-कभी यव के दानों सहित अंकित है। स्पष्ट है यह फोनीशियनों की अश्व प्रियता का एक संकेत है।[32]

इसी अश्व का बिम्ब सिलीसिआ (Cilicia) से प्राप्त ग्रीको-फोनीशियन मुद्राओं (500-ई.पू.) तथा कप्पाडोसिया (Cappadocia) से उत्खनित हित्ती सीलों पर भी अंकित हुआ है।

कालान्तर में पुराकालीन ब्रिटेन और गोथों को पूज्य थोर-वैदिक इन्द्र, अश्वारूढ़ हो गया अपना बज्र अथवा थंडर-बोल्ट लेकर/इस थोर के अश्व, जो कभी ओडिन (Odins) का अश्व भी कहा जाता है, को खिलाने के लिए ब्रिटिश कृषक अन्न को डण्ठल सहित अपनी छत पर लटका देते थे।[3] यही कारण है कि आज भी सामान्य अश्व के पैरों में ठोकी गई लोहे की नाल (Horse-shoe) यूरोप और ब्रिटेन के नव निर्मित मकानों के ऊपर मकानों के ऊपर लगाई जाती है, क्योंकि इस मान्यतानुसार ओडिन के अश्व की नाल होने के कारण, यह अपशकुनों को भगा देती है।[3]

अपने कैंसर शोध संस्थान हाइडिलबर्ग जरमनी प्रवास (1971-73) एवं वर्ष 80-81 काल में मैंने स्वतः इस प्रकार की लोहे की अश्व-नाल (Horse-shoe) को नव निर्मित मकानों पर जड़ा देखा था।

पुनः ऋग्वेद में इन्द्र के सूर्य अश्व को अन्न की नालियाँ-दानों की खिलाने की चर्चा है।[33] इस प्रकार प्राचीन ब्रिटेन और समीपवर्ती क्षेत्रों में सूर्य पूजा अपने परिवर्तित वैदिक रूप में प्रचलित थी जिसे वहाँ पर प्रसारित करने का प्रसंशनीय कार्य ऋग्वैदिक पणियों के ऐतिहासिक प्रारूप फोनीशियनों ने किया था, जिसका श्रेय उन्हें दिया जाना चाहिए।

सन्दर्भ

1. प्राचीन ब्रिटिश शिलापटों और मुद्राओं पर शून्याकार लिपि-कप मार्किंग में अंकित सूर्योपासना से सम्बन्धित हित्तो-फोनीशियन अभिलेख-इतिहास दर्पण : 22(1) 12-23, 2017
2. सिम्बेलाइन : द कम्पलीट वर्कस ऑफ विलियम शेक्सपियर, मरेस सेलस एण्ड सर्विस कम्पनी, चेस्ट्राहाउस, 146-152 हॉलोवे रोड, लन्दन-ड.7,
3. वैडेल, एल.ए. : द फोनीसियन ओरीजिन ऑफ ब्रिटेन, स्काट्स एण्ड एग्लोंसैक्सन्स, विलियम एण्ड नारगेट- 1924, पृ.263, 346, 366, 267, 273-4, 278, 279, 281, 284, 287
4. राजीव रंजन उपाध्याय : ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का प्राचीन ग्रीक पुराकथाओं में रूपान्तरण, इतिहास दर्पण : 20 (1), 11-16, 2015
5. राजीव रंजन उपाध्याय : कुश द्वीप और मिस्र का वैदिक अतीत, इतिहास दर्पण, 18(1), 75-89, 2013
6. राजीव रंजन उपाध्याय : ब्रिटनों, स्काटों एवं एंग्लो सैक्सनों के पूर्वज-फोनीशियन, इतिहास दर्पण, 20(2), 229-249, 2015
7. होली बाईबिल : किंग जेम्स वरजन, लन्दन, कालिनस क्लीयर टाइप प्रेस, द बुक ऑफ ओल्ड टेस्टामेन्ट
8. त्रिपाठी डी.एन. : इन्डियन एण्ड वेस्ट एशियन कल्चरल कानटैक्टस, इतिहास दर्पण 18(2), 267-286, 2013
9. स्टार्क, एच.एल. : द ज्यूज एण्ड ह्यूमन सैक्रीफाइज, लन्दन, 1909, विस्तृत विवरणों हेतु देखें-अन्तर्जाल
10. लाईस एस. : ह्यूमन ओरीजिन्स, पृ. 191,1897, चैपमैन एण्ड हाल-लन्दन
11. वारिंग गोल्ड एस. : स्ट्रेन्ज सरवाइवलस, पृ., 120, सम चैप्टर्स इन द हिस्ट्री ऑफ मैन, मैथ्यू एन एण्ड कम्प, 1894
12. थूरो-डानगिन : ले इंस्कृप्शन सुमेर 17
13. एनसाइक्लोपीडिका बिबलिका : एडिटर, थॉमस केली, चेयने, 1899, 3200
14. इजेकिल : 16, 3 और 45 देखें, संदर्भ 7
15. अमराना-टैबलेट्स : विकीपीडिया तथा वैडेल संदर्भ 3, पृ., 274 देखें, विकीपीडिया-येरुशलम

16. बाईबिल : जेशुआ, 25, 63 एवं सन्दर्भ 3
17. बाईबिल : 2-क्रानिकल, 7, 1, सन्दर्भ-7
18. बाईबिल : 2-क्रानिकल, 14, 5, 34, 4-7
: 2-किंग-23, 11, सन्दर्भ-7
19. एनसाइक्लोपीडिया बिबलिका : 4933, 4948, 4946
20. इजकेल : 8, 16, बाईबिल संदर्भ-7
21. इजरा : 1, 2-7, 4, 3, 4 आदि
22. ए शार्ट क्रोनोलाजी ऑफ येरूशलम एण्ड टेम्पल माउन्टेन : अन्तर्जाल
23. मैथ्यू : 16, 24 संदर्भ 7
24. मैथ्यू : 16, 24 संदर्भ 7
25. द हिस्ट्रीज-हीरोडोटस, ii, 73 एवं संदर्भ 3
26. ल्यूक : i, 36, सन्दर्भ 7
27. मस्जिद-अल-अक्सा : अन्तर्जाल, विकीपीडिया
28. डी.मैकरित्शी (D.Mac Ritchie) : टेस्टीमोनी ऑफ ट्रेडीशन, प्रकाशक : कागेन पॉल-लन्दन 1890
29. राजीव रंजन उपाध्याय : ब्रिटनों, स्काटों और ऐंग्लोसैक्सनों के पूर्वज : फोनीशियन इतिहास दर्पण 20(2), 229-249, 2015
30. डीसील (Deiseal) : द सन वाइज टर्न-अन्तर्जाल
31. ऋग्वेद : 5, 78, 2-4
32. विक्टर डुरे (Duruey) : द हिस्ट्री ऑफ रोम एण्ड ऑफ रोमन एम्पायर पीपुल फ्रॉम इट्स ओराजिन टू द इस्टैवलिशमेन्ट ऑफ द सिविलाइजेशन, प्रकाशन (Paula) पाला प्रेस, लन्दन 2015 मूल ग्रन्थ-हिस्ट्री डेस रोमानी
33. ऋग्वेद : 1, 20, 2

चित्र-1 : सीलीसियन मुद्रा (पाँचवी शती ई.पू.) ग्रीको-फोनीशियन उद्भव। इन मुद्राओं पर अंकित अज (Goat) और हिरण-गोथों को व्यक्त करते हैं। मुद्रा a-b सूर्य चक्र को लाँघता अज तथा a-e पर अंकित TKS, TKZ एवं DCZ तथा अज एवं सिंहासनारूढ़ बेल-टार्ज जो हाथ में सूर्य चक्र (क्रास) धारण किए है तथा उसके आसन के नीचे भी हैण्डल युक्त का बना है।

चित्र-2 : अन्न के दोनों से निर्मित क्रास-सूर्य चक्र, एवं सूर्य अश्व। इस प्रकार का क्रास कालान्तर का सेन्ट एन्ड्रू का क्रॉस हो गया-प्राचीन ब्रिटिश मुद्रा

चित्र-3 : माउन्ट मोरिन पर निर्मित मस्जिद अल-अक्सा

चित्र-8 : प्रारम्भिक ब्रिटिश मुद्रा पर अंकित सूर्य के संकेत-डिस्कस, अश्व, श्येन आदि

देवनागरी वर्णमाला का अक्षर दर्शन

नंदलाल मेहता वागीश*

देवनागरी लिपि में अंकित संस्कृत वर्णमाला के 49 अक्षर हैं। लिखित ध्वनि रूप को वर्ण कहा जाता है और उच्चरित इकाई को अक्षर कहते हैं। अक्षर का अर्थ है– जिसका क्षरण न हो–'न क्षरति इति अक्षरः।' इसी अर्थ में अक्षर शब्द, कूटस्थ ब्रह्म का बोधक है। उनचास वर्णाक्षर अंतरिक्ष में व्याप्त 49 पवनों की सहायता से मनुष्य मुखांगों से उच्चरित होते हैं। समाधि-लब्धि के लिए हज़ारों वर्षों की ध्यानावस्था में ये ध्वनियाँ भारतीय ऋषियों को स्पंदित होती हुई अनुभूत हुई थीं, जिन्हें उनके ध्वनित्व से देवनागरी लिपि के सटीक वर्ण-यन्त्रों में रूपान्तरित किया गया। यह रूपांकन अभेद-अवस्था का है। देवनागरी लिपि के ये 49 वर्ण 'अनाहत अक्षर' है। विश्व की अन्य भाषाओं के अक्षर इन 49 वर्णों की मिश्रित ध्वनियों से निकले हैं। इस दृष्टि से संस्कृत एकमात्र भाषा है, जो 'वाक्' कहलाने की प्रथम अधिकारिणी है। वर्ण-रूप और ध्वनि-अक्षरों का ऐसा प्राणिक अद्वैत किसी भाषा में नहीं मिलता।

भारतीय भाषा-दर्शन के मर्मज्ञ आचार्यों का मत है कि सृष्टि की उत्पत्ति 'अक्षर' से हुई है। अभिप्राय यह कि अक्षर-दर्शन का सूक्ष्म रूप पहले है और भौतिक सृष्टि का स्थूल रूप बाद की स्थिति है। अक्षर के उच्चारण में ही स्पन्दन निहित है। अक्षर का स्पन्दन चिद्बिन्दु के संयोग से घटित होता है। स्पष्ट है कि सृष्टि की स्थिति और गति का कारक हेतु चिद्बिन्दु में स्फुरित स्पन्दन है। इस स्पन्दन के कार्यरूप ध्वनि, अर्थ और प्रत्यय (संज्ञान) के अस्ति-संगमन से सृष्टि का बीजारोपण घटित होता है।[1]

भारतीय भाषा-दर्शन वस्तुतः वाक्दर्शन है। भारतीय भाषा-दर्शन के प्राचीन ग्रन्थ 'ऋक्तन्त्र' में अक्षर सामाम्नाय (अक्षर समष्टि) की व्युत्पत्ति और महिमा पर

* डॉ. नंदलाल मेहता वागीश, पी.एच.डी., डी.लिट्., (लेखक-समीक्षक-भाषाचिन्तक) पूर्व सीनियर फैलो (Senior Fellow) संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार। मार्गदर्शक-अखिल भारतीय साहित्य परिषद् हरियाणा। शब्दालोक-1218 सेक्टर-4, अर्बन एस्टेट, गुड़गाँव (हरियाणा), दूरवा-0124-4077218, सचलवा-9910431699

गम्भीर विचार हुआ है, जिससे यह ज्ञात होता है कि इस देश के प्राचीन भाषा पंडितों में वर्णाक्षर और शब्दों के सहपूरक अध्ययन की पद्धति प्रचलित थी।

देवनागरी लिपि के वार्णिक अध्यात्म-दर्शन की विलक्षणता यह है कि सभी अक्षर अपने विशिष्ट अर्थों से युक्त हैं। तंत्र-ग्रन्थों में अक्षर के स्वरूप, आकृति, अर्थ, महात्म्य, प्रर्याय-नाम, प्रतीकत्व, गुण-प्रभाव और यहाँ तक कि कुछ अक्षरों के तान्त्रिक विनियोग और ध्यान-विधि पर भी विचार हुआ है। ऐसे ग्रन्थों में 'कामधेनु तन्त्र, वर्णाभिधान तन्त्र, वर्णोद्धार तन्त्र, तथा योगिनी तन्त्र' उल्लेखनीय हैं। संस्कृत-कोशों में 'एकाक्षर कोश, मेदिनी कोश, शब्दकल्पद्रुम और वाचस्पत्यम् कोश' का नाम लिया जा सकता है। प्रसंगतः महाभारत ग्रन्थ में भी कहीं-कहीं अक्षरों के अर्थ-संकेत मिलते हैं। संस्कृत-हिन्दी कोशों में 'हिन्दू धर्म कोश, वामन आप्टे कोश और पौराणिक कोश' में तन्त्रगत अर्थों का उल्लेख हुआ है।

भारतीय दृष्टि से वर्णाक्षर ध्वनि-रूप रचनाएँ हैं। संस्कृत वर्णमाला में 49 वर्णाक्षर हैं, जो अन्तरिक्ष में व्याप्त 49 पवनों की सहायता से ही मनुष्य-मुखांगों से उच्चरित होते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसंधान का यह प्रतीक्षित विषय है कि 49 वर्णाक्षरों की ध्वनि सत्ताओं का 49 पवनों के किन क्रमिक नामरूपों से सम्बन्ध है, और यह भी अनुसंधेय है कि मनुष्येतर प्राणियों द्वारा की गई सभी संध्वनियों में इन 49 पवन-रूपों की क्या और कैसी भूमिका है?

देवनागरी लिपि के 49 वर्णाक्षरों का अनुक्रम इस रूप में अंकित किया जाता है—

स्वर— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः।

व्यंजन— क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह।

संयोगात् 14 माहेश्वर सूत्रों में भी 'ऋ और ऌ' का क्रम 'उ' के बाद दूसरे सूत्र में दर्शित किया गया है, जबकि उच्चारण की दृष्टि से मुखांगों में 'ऋ और ऌ' का स्थान 'उ' के उच्चारण से पहले होना चाहिए। 'ऋ और ऌ' क्रमशः मूर्धन्य और दन्त्य स्थानों से उच्चरित होते हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य और विशेष पाठकों के मन में यह प्रश्न उठता है कि संस्कृत भाषा-साहित्य के किस काल में अपने अल्प प्रयोग के कारण, ये दोनों वर्ण व्यवस्थित और नियमबद्ध अनुशासन से मुक्त होकर मूल स्वरों के अंत में अंकित किए जाने लगे थे? व्याकरण के आचार्यों के लिए उक्त विषय अनुसंधेय तो है ही, साथ ही यह विषय भी पाठकों के समाधान का अपेक्षी है कि 'माहेश्वर सूत्रों' में अयोगवाह 'अनुस्वार और विसर्ग वर्ण' परिणित क्यों नहीं किए गए? जबकि वैदिक काल से संस्कृत ग्रन्थों में इन वर्णों का शाब्दिक प्रयोग यथास्थान निर्बाध गति से होता रहा है।

हिन्दी भाषा में वर्णाक्षरों के लेखन एवं उच्चारण को एक व्यवस्थाकृत आधार प्राप्त है। सभी वर्णाक्षर, स्वर व्यंजनों में वर्गीकृत हैं। अयोगवाह अर्थ-लक्षण के वाचक 'अं और अः' भी स्वरों में सम्मिलित हैं। इस दृष्टि से स्वर 16 हैं और व्यंजन 33 हैं। कुल वर्णाक्षर 49 हैं। 16 स्वरों में मूल 5 हैं। इन्हीं से 5 दीर्घ स्वर उच्चरित होते हैं। पाँच मूल स्वर हैं—अ इ ऋ ऌ और उ। मात्रा की दृष्टि से इन्हें ह्रस्व स्वर कहा गया है। इनके द्विमात्रिक रूपों को दीर्घ स्वर कहते हैं। 'ए ऐ ओ औ' चार संयुक्त स्वर हैं। इस प्रकार मूल स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर तथा 'अं और अः' को मिलाकर स्वरों की संख्या 16 है। व्यंजन वर्ण 33 हैं। 'क से म' तक 25 वर्ण स्पर्श व्यंजन कहलाते हैं। ये 25 वर्ण कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ उच्चारण-स्थानों के आधार पर 5 वर्गों में वर्गीकृत किए गए हैं। अपने प्रथम वर्ण के नाम पर इन्हें कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग कहा गया है। चार व्यंजनों का एक वर्ग 'अन्तस्थ' रूप में हैं। ये चार वर्ण हैं—य, र, ल, व। इन्हें अर्धस्वर भी कहा जाता है, क्योंकि इन चार वर्णों का उच्चारण—साधर्म्य क्रमशः 'इ, ऋ, ऌ और उ' से है। चार व्यंजन वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं। ये हैं—श, ष, स, ह। इन के उच्चारण में निःश्वास वायु किंचित् घर्षित होकर ऊष्मित हो जाती है। संयुक्त व्यंजनों की गणना 33 व्यंजनों में नहीं होती। स्वर और व्यंजन वर्ग का स्वाभाविक अन्तर यह है कि स्वरों के उच्चारण में जिह्वा का स्पर्श मुखस्थ अवयवों पर नहीं होता, जबकि सभी व्यंजन जिह्वा स्पर्शित सहयोग से उच्चारण-अवयवों पर उच्चरित होते हैं। औच्चारणिक दृष्टि से देवनागरी लिपि के स्वर-व्यंजनों का यह क्रम विशुद्ध नियमबद्ध और वैज्ञानिक तर्कणा से है।

भाषिक विवेचन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि देवनागरी लिपि के स्वर-व्यंजनों के स्वरूप और उच्चारणगत वैशिष्ट्य पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए। प्रसंगतः यह उल्लेखनीय है कि उच्चारण के मूल आधार तो वह पाँच मुखस्थ-अवयव ही हैं, व्याकरण में जिन्हें उच्चारण-स्थान कहा जाता है। जहाँ तक जिह्वा के सचेष्ट-निश्चेष्ट सहयोग का सम्बन्ध है वह तो अनिवार्य है ही। ध्यातव्य है कि उच्चारण-काल में स्पर्शित और अस्पर्शित कही जाने वाली जिह्वा कभी निःस्पन्द नहीं होती। वायु-स्फुरित उसकी अनुभूति अस्पर्शित अवस्था में भी मुखस्थ अवयवों पर चरितार्थ होती है। पाँच मुखस्थ अवयव हैं— कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ। शेष विस्तार तो इन्हीं पर आश्रित है, यहाँ तक कि आभ्यन्तर प्रयत्न के सभी चेष्टा-व्यापार और बाह्य प्रयत्न के श्वास-गुण-मात्रा आधारित सभी व्यंजन वर्गीकरण भी, इन्हीं पाँच उच्चारण-अवयवों का नामाधार ग्रहण करते हैं।

स्वरों को व्याकरण में अजन्त (अच्+अन्त) और व्यंजनों को हलन्त (हल्+अन्त) कहा गया है। स्वर 16 हैं। मूल स्वर 5 हैं जो कि एक मात्रिक हैं। उनसे निष्पन्न 5 दीर्घ स्वर द्विमात्रिक हैं। चारों संयुक्त स्वर और अयोगवाह 'अं और अः' भी द्विमात्रिक हैं। स्वरों के उच्चारण-काल में मुखस्थ-अवयव जिह्वा से स्पर्शित नहीं होते। स्पष्ट है

कि स्वरों के उच्चारण में निःश्वास वायु मुख में बाधित नहीं होती, जबकि व्यंजन वे ध्वनियाँ है कि जिन के उच्चारण में निःश्वास वायु बाधित होती है, जिह्वा मुखस्थ अवयवों का स्पर्श करती है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं निःश्वास वायु घर्षण करते हुए मुख से बाहर आती है। व्यंजनों के उच्चारण में 'अ' स्वर का योग निहित रहता है। इसलिए वर्ण के रूप में व्यंजन को हलन्त (्) लिखते हैं। ऐसी स्थिति में हलन्त-व्यंजन अर्धमात्रिक गिने जाते हैं। लेखन-दृष्टि से देवनागरी लिपि में कुल 49 वर्ण हैं– 16 स्वर और 33 व्यंजन।

तत्त्व-सार दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो मूल और पौलिक स्वर एक ही है और वह है–'अ'। शेष स्वर मुखस्थ अवयवों के उपलक्षण से नामित होते हैं। जिह्वा की अस्पर्शित अवस्था में भी मुख-वायु की कहीं दीर्घ, कहीं तिर्यक्, कहीं पार्श्व कहीं उत्थित, कहीं अग्रसरित, कहीं ऊर्ध्वसरित, कहीं संकुचित तो, कहीं स्फीत गति-स्थिति के कारण 'अ' स्वर विविध ध्वनि-रूपों में श्रुत होता है। यह अवश्य है कि स्वर-उच्चारण में मुखस्थ अंग जिह्वा से स्पर्शित नहीं होते। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जिह्वा-फलक पर मुखस्थ वायु की गति-स्थिति का स्फुरण नहीं होता। सावधान मन से जिह्वा पर मुखस्थ वायु के स्फुरण को अनुभूत किया जा सकता है।

'अ' कण्ठ्य स्वर है। अ (और आ) की उच्चारण-वेला में मुखस्थ वायु स्फीत अवस्था में रहती है, किन्तु इ-ई के उच्चारण में मुखस्थ वायु का स्फुरण तालु-पार्श्व से होता है, इसलिए इ-ई तालव्य स्वर हैं। जब तालु पार्श्व स्फुरित मुखस्थ वायु किंचित् मूर्धा की ओर अग्रसरित होता है तो स्वाभाविक रूप से 'इ' का स्वरण 'ऋ' ध्वनन में परिणत हो जाता है। दन्तोन्मुख स्थिति में मूर्धन्य मुखस्थ वायु 'ऌ' रूप में ध्वनित होती है। 'ऋ' ध्वनि मूर्धन्य और 'ऌ' ध्वनि दन्त्य कहलाती है।

इस प्रकार 'अ' रूप में स्वरित मूल एवं आद्य कण्ठ्य ध्वनि ही, अस्पर्शित अवस्था में मूर्धोन्मुख तथा दन्तोन्मुखता में 'ऋ, ऌ' स्वरण से अग्रसरित होकर ओष्ठ-वर्तुलता पर उ-ऊ ध्वनि-रूप धारण करती है। इसी नियम से 'ए-ऐ, ओ-औ' के उच्चारण रूपों को समझा जा सकता है। 'अं' आद्य स्वर अ का कण्ठ-नासिक्य उच्चारण है तो 'अः' ध्वनि कण्ठस्थ वायु का विसर्जन है। यह एक प्रकार से कण्ठोत्थित ध्वनि की विश्रान्ति है।

जहाँ तक देवनागरी व्यंजन-व्यवस्था का सम्बन्ध है, तो उसे किसी एक वर्ग की स्थिति से समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'क' के बाद 'ख' का उच्चारण इसलिए होता है कि 'ख', 'क' वर्ण का ही ऊष्मित रूप है। 'ख' का सतत उच्चारण स्वयमेव 'ग' की ध्वनि में परिणत हो जाता है। 'घ', 'ग' की ध्वनि का ही ऊष्मित रूप है। इसलिए 'ग' के बाद उच्चरित होता है। 'क' वर्ग के चार अक्षरों के बाद पंचम वर्ण 'ङ्' मुखनासिका के सहभाग से उच्चरित होता है। यह स्वाभाविक है कि चार ध्वनियों तक कुछ क्षीण हुआ कण्ठ्य-उच्चारण नासिका के सहयोग से 'ङ्' को उच्चरित करता

है और इस प्रकार 'क' वर्ग अपनी मूल लय में विश्रान्ति पाता है। यहीं न्याय सभी स्पर्श व्यंजन-वर्गों पर लागू होता है।

अन्तस्थ वर्णाक्षरों—'य, र, ल, व' का जहाँ तक सम्बन्ध है, इनका उच्चारण स्वर और व्यंजन का मध्यवर्ती-सा होता है। अभिप्राय यह कि मुखस्थ-अवयवों पर जिह्वा-नोक का पूर्ण स्पर्श नहीं होता। इसलिए ये 'अर्धस्वर' कहलाते हैं, किन्तु औच्चारिक स्थिति के कारण इनकी गणना व्यंजनों में होती है। 'य' का सम्बन्ध 'इ' स्वर से, 'र' का सम्बन्ध 'ऋ' से, 'ल' का सम्बन्ध 'ऌ' से और व का सम्बन्ध 'उ' स्वर से है। अस्पर्शित 'इ' और किंचित् स्पर्शित 'य' व्यंजन, दोनों तालु से उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार जिह्वा अस्पर्शित 'ऋ' स्वर और किंचित् क्षिप्रता से अपूर्ण स्पर्शित 'र' व्यंजन, दोनों मूर्धा से उच्चरित होते हैं। अस्पर्शित 'ऌ' स्वर और त्वरित स्पर्शित 'ल' व्यंजन की उच्चरित स्थिति 'दन्त्य' कहलाती है। अस्पर्शित 'उ' स्वर, झटित स्पर्शित 'व' व्यंजन, ओष्ठ से उच्चरित होते हैं। तालव्य उच्चरित 'य' मूर्धागत होने पर 'र' और दन्त-सन्निधि से 'ल' तथा ओष्ठ-वर्तुलता में 'व' रूप में ध्वनित होता है।

व्यंजनों के ऊष्मित रूप हैं—'श, ष, स और ह'। तालव्य 'श' मूर्धा पर 'ष' और दन्त-सान्निध्य पाकर 'स' रूप में उच्चरित होता है। विसर्ग के समान 'ह' का उच्चारण भी कण्ठ्य है। 'ह' व्यंजनों का महाप्राण विसर्जन है। इस प्रकार कण्ठोद्गत स्वरों में 'अः' विसर्ग रूप से और व्यंजनों में कण्ठोच्चरित ऊष्म 'ह' क्रमशः स्वर और व्यंजनों के विश्रान्तिलब्ध अक्षर हैं।

स्वर-व्यंजन-उच्चारण के उक्त विश्लेषण से यह अन्तर्हित रहस्य उद्घाटित होता है कि संख्यात दृष्टि से देवनागरी लिपि के बीज वर्ण आठ हैं। ये हैं—'अ, क, च, ट, त, प, य और श। ये आठों दिगक्षर हैं अर्थात् आठ दिशाओं के प्रतिनिधि अक्षर-प्रतीक है। देवनागरी लिपि के वर्णाक्षरों का यह रहस्योद्भव बीजाक्षर रूप से 'दुर्गासप्तशती' के सिद्धकुंजिका-स्तोत्र में एक श्लोक-माध्यम से इस प्रकार नादरूपेण सुरक्षित है—अं, कं, चं, टं, तं, पं, यं, शं।[2] इन्हीं आठ दिगक्षरों के व्यास-वृत्त पर 49 वर्णाक्षर उद्गत होते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में 'अ' से 'क्ष' तक पचास वर्णाक्षर माने गए हैं और 'क्ष' को शिखामणि (प्रधान मनका) के रूप में प्रतिष्ठ किया गया है।[3] हिन्दी वर्णमाला के 49 वर्णाक्षरों का व्यवस्थित उच्चारण विश्व के अन्य भाषाविदों के लिए आश्चर्य का विषय है। गुखांगों के आधार पर मनोविज्ञान सम्मत और वैज्ञानिक उच्चारण सहित सभी वर्णाक्षरों का सटीक क्रम हिन्दी भाषा के व्याकरणिक बोध को जितना समृद्ध करता है, वह किसी भी भाषा-भाषी के लिए गौरव का विषय हो सकता है। सभी स्वर और व्यंजन सुव्यवस्थित लेखन-न्याय और तर्कबद्धता से लिखे और बोले जाते हैं। यह तर्कबद्धता और विवेक दृष्टि, भाषा के वर्ण, शब्द, पद, वाक्य और अर्थतत्त्व तक समान रूप से व्याप्त है।

युक्तियुक्त रीति से प्रतिपादित उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि में वर्ण और अक्षर की ऐसी प्राणिक अद्वैतता विश्व की किसी लिपि में नहीं है। तन्त्र-साधना के अनुसार ये समस्त अक्षर शरीर की षट्चक्रगत योग नाड़ियों पर स्फुरणशील अवस्था में हैं। मूलाधार से आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) तक षट्चक्र हैं। आज्ञाचक्र पर अक्षरमाला के अन्तिम वर्ण 'ह' के साथ 'क्ष' अक्षर स्पन्दित है। 'क्+ष' के योग से व्युत्पन्न 'क्ष' संयुक्ताक्षरण का पहला अक्षरबन्धन है, जिस में 'क्' के अल्पप्राणत्व और 'ष' के महाप्राणत्व दोनों का सन्निवेष है। 'अ से ह' तक सभी उनचास अक्षर 'क्ष' सुमेरुमणि से सूत्रित होकर अक्षमाला का रूप लेते हैं। अक्षमाला ही अक्षरमाला है।

हिन्दी की लिपि देवनागरी में अधुना अनुपस्थित एवं अप्रयुक्त एक वैदिक वर्णाक्षर है—ळ। यह वर्णाक्षर 'ल और ड' की मध्यस्थ ध्वनि को धारण करता है। यह वर्णाक्षर मराठी भाषा में ज्यों का त्यों सुरक्षित है। हरियाणा प्रान्त की बोलचाल में भी यह अक्षर-ध्वनि आज भी व्यवहृत होती है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र 'अग्निमीळे पुरोहितं' में यह वर्णाक्षर प्रयुक्त हुआ है।[4] वैदिक संस्कृत के इस अक्षर का प्रयोग-रहस्य यह है कि स्वाधिष्ठान चक्र पर गुंजरित 'ल' इस चक्र का अन्तिम अक्षर है तो अगले चक्र मणिपुर पर पहला अक्षर 'ड' स्पन्दनशील है। साधना के आरोहण-क्रम में स्वाधिष्ठान चक्र पर गुंजरित अक्षर 'ल' मणिपूरक योगनाड़ी पर स्फुरित प्रथम अक्षर 'ड' की ध्वनि में संगमित होकर 'ळ' की गुंजार में परिणत हो जाता है। इस विशिष्ट वैदिक ध्वनि को मिलाकर देवनागरी लिपि में 50 अक्षर हो जाते हैं। इस पचास अक्षरों के अनुलोम क्रम को क्रमाक्षर और विलोम क्रम को विक्रमाक्षर कहा जाता है। क्रमाक्षर और विक्रमाक्षर का कुल योग 100 (50-50) बनता है। इस में अष्टधा प्रकृति के अष्टवर्गीय बीजाक्षरों के योग से एक माला बनती है। यह माला 'क्ष' सुमेरुमणि से सूत्रित है।

देवनागरी लिपि के स्वर-व्यंजन सम्बन्धी उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वर्णाक्षरों का यह वाक्-संसार तत्त्वतः आठ दिगक्षरों (दिक्+अक्षरों) के औच्चारणिक व्याप्ति-सामर्थ्य से सूत्रबद्ध भी है और व्याख्येय भी है। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते-होते यदि एकमेव अक्षर-बीज को लक्षित किया जाए तो यह स्पष्ट होगा कि यह एक अक्षर-बीज है, कण्ठोच्चरित आद्य ह्रस्व स्वर 'अ'।[5] समस्त व्यंजन अक्षरों में 'अ' स्वर की आधारपीठिका तो प्रत्यक्ष है ही, 16 स्वरों में भी अस्पर्शित जिह्व होकर 'अ' स्वराक्षर की मुखस्थ विविध उच्चारण रूप धारण करता है, यह तथ्य पूर्व विवेचन से पहले ही स्पष्ट हो चुका है। इस प्रकार समस्त वर्णाक्षर अपने बीज स्वरूप 'अ' ह्रस्व स्वर से निर्गत होते हैं और उसी में लीनस्थ भी हो जाते हैं। साधना-मार्ग के सिद्ध योगी 'अक्षर' के माध्यम से सृष्टि के इस रहस्य का साक्षात्कार करते आए हैं। उक्त सृष्टि-दर्शन को यदि विशुद्ध तात्त्विक दृष्टि से कहा जाए तो यह कि 'बीज के वृक्षीकरण और वृक्ष के बीजीकरण' की सृष्टि-प्रक्रिया हमारी अनुभूति का प्रत्यक्ष विषय है।

सुतराम, यह स्पष्ट है कि भारत के भाषिक इतिहास का उल्लेखनीय एवं गौरवपूर्ण बोध इस तथ्य में निहित है कि वाक्-चिन्तन की भारतीय दृष्टि, शब्द और वर्णाक्षर की आन्तरिक अन्विति के साथ-साथ उनके पृथक्-पृथक, रूपों में भी क्रियाशील रही है। देवनागरी-वर्णाक्षरों की स्वरूप-स्थिति इस रूप में सदा से भारतीय मन को गर्वित करती आई है कि लिपिगत शब्दों के तर्कयुक्त अर्थ तो हैं ही, सभी वर्णाक्षर भी अपने रूपों में सार्थक हैं। संस्कृत-भाषा के वर्णरूपों और उनकी अर्थ-सृष्टि का 'अद्वैत भाव' इस भाषा को देवभाषा कहे जाने का गौरव प्रदान करता है। इस प्रकार देवनागरी वर्णमाला का ऐसा सुसंगत वास्तुरूप उत्तर भारत की अनेक भाषाओं सहित हिन्दी भाषा को भी प्रसादवत् उपलब्ध हुआ है, जो अद्युनातन विषयों और नव बोधों को सार्थक अभिव्यक्ति देने में समर्थ है।

ब्रह्माण्ड में व्याप्त नाद-तरंगों को अधिगत करते हुए भारतीय भाषा-आचार्य, हज़ारों वर्षों से इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि वर्ण, शब्द और वाक्य से पूर्व उनकी लय का अस्तित्व अनुगुंजित होता है। इसलिए वर्णाक्षर अपने लय-त्वक्-पट को विदीर्ण करते हुए स्वयं लयानुरूप ध्वनित होते हैं। उनके इस नाद को ही व्याकरण में स्फोटवाद कहा गया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारतीय धर्म-चिन्तन और दर्शन-ग्रन्थों में नाद तत्त्व से सृष्टि-उद्भव का बार-बार उल्लेख हुआ है। आधुनिक विज्ञान भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता हुआ गति-पुरस्सर है।

संदर्भ

1. विचार-कण, मंगल विमर्श (त्रैमासिक)—मुख्य सम्पादक डॉ. ओमीश परूथी—भाषा में वर्ण-शिक्षा दर्शन की उपेक्षा क्यों? —डॉ. सुरेन्द्र भटनागर, पृ. -22
2. दुर्गासप्तशती—सिद्धकुंजिका स्तोत्रम्-मन्त्र ॥8॥
3. अक्षमालिकोपनिषद्—गद्य-मन्त्र ॥5॥
4. ऋग्वेद—प्रथम-मन्त्र।
5. श्रीमद्भगवद्गीता—अक्षराणामकारोऽस्मि।। अध्याय 10/33।।

बिरसा आन्दोलन : पृष्ठभूमि और विकास

रामनिरंजन परिमलेन्दु*

सन् 1857 ई. के विश्वप्रसिद्ध स्वाधीनता आन्दोलन, सन् 1855-1857 ई. के संथाल आन्दोलन और लगभग छियालीस वर्षों तक चलने वाले बहावी आन्दोलन के पश्चात् बिरसा आन्दोलन का हमारे राष्ट्रीय इतिहास में अक्षय महत्त्व है। बिरसावादियों का आन्दोलन उन्नीसवीं सदी की अन्तिम क्रान्ति है, प्राक्-गाँधी युग की अन्तिम स्वतन्त्र क्रान्ति। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही धार्मिक सुधार, सामाजिक शुद्धिकरण और सामाजिक पुनरुत्थान के हेतु अनेक संस्थाओं और आन्दोलनों का उदय होना प्रारम्भ हो गया था। इन लोकनिष्ठ संस्थाओं और सुदूरव्यापी प्रभावसम्पन्न आन्दोलनों ने ही जन-मानस में राजनीतिक जागरुकता और राष्ट्रीयता को विकसित किया। छोटानागपुर का पहाड़ी अंचल भी सामाजिक और राजनीतिक जागरुकता की किरणों से वंचित नहीं रह सका और इसका विशेष श्रेय बिरसा और बिरसा आन्दोलन को है।

सन् 1857 ई. के पूर्व झारखण्ड के आदिवासियों के क्रान्तिकारी आन्दोलनों को अंग्रेज शासकों ने अत्यन्त क्रूरतापूर्वक कुचल दिया था; किन्तु असंतोष एवं रोष की चिनगारी आदिवासी जनता में भीतर-ही-भीतर सुगलती रही। सन् 1831-32 ई. में छोटानागपुर में कोल आन्दोलन और सन् 1855-57 ई. संथाल विद्रोह आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। सन् 1855-57 ई. का उग्र संथाल आन्दोलन बर्दवान से भागलपुर तक फैला था, जो डामिन क्षेत्र के तत्कालीन राजमहल अवर प्रमण्डल के बाराहाट निवासी सिद्धो, कान्हू, चाँद और भैरव नामक चार भाइयों के नेतृत्व में संचालित था। इस उग्र आन्दोलन को कुचलने में ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार को लोहे के चने चबाने पड़े थे।

सन् 1881 से 1895 ई. तक फैले हुए रांची और सिंहभूम के भूमि सम्बन्धी आन्दोलनों को अंग्रेजी सरकार ने बड़ी सख़्ती से कुचल दिया था; किन्तु जनता में असंतोष, क्षोभ और रोष की ज्वाला कम नहीं थी।

* डॉ. रामनिरंजन परिमलेन्दु, पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर (हिन्दी), दक्षिण दरवाजा, गया 823001 (बिहार), मोः 0-9470853118, दूरभाषः 0631-2222347

सम्पूर्ण संथाल क्षेत्र में बिरसा के बाद बिरसा आन्दोलन जैसा विशाल, सुसंगठित, सुनियोजित और सुदूरव्यापी प्रभावशाली आन्दोलन फिर कभी नहीं हो सका। धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के ही कारण बिरसा पंथ का अवतरण हो सका। बिरसा पंथ का आगमन संथाल क्षेत्र में उल्का की तरह आकस्मिक नहीं हुआ। संथालों की जीवन-धारा की सफल प्रतिक्रिया बिरसा पंथ का शुद्धिकरण मार्ग है। देश की पराधीनता की प्रतिक्रिया बिरसा पंथ का स्वतन्त्रता-अभियान है।

बिरसा आन्दोलन और बहावी आन्दोलन दोनों के फलस्वरूप प्रारम्भ में धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक शुद्धिकरण पर ही विशेष बल दिया जाता था। बाद में इनका राजनीतिक रूप प्रखर हो गया और अन्य रूप तिरोहित हो गए। इस प्रखर राजनीतिक चेतना का लक्ष्य था— विदेशी शासन का उन्मूलन। बहावी आन्दोलन और बिरसा आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन इतिहास के प्रबुद्ध पाठकों के लिए कम रोचक नहीं होगा।

रविवार, 10 मई 1857 ई. को सबसे पहली बार मेरठ में विद्रोह की ज्वाला सुलग उठी थी। सन् 1857 की यह पहली ज्वाला थी। और, बिहार में 25 जुलाई 1857 ई. को दानापुर के तीन मिलिट्री रेजिमेंटो ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा फहराया था। इस आन्दोलन में बाबू कुंवर सिंह की वीरता ने बिहार ही नहीं, बिहारेतर क्षेत्रों को भी प्रेरित-प्रभावित किया था।

महान् संकल्प के मूतिमान स्वरूप की तरह इतिहास के रंगमंच पर बिरसा का शुभागमन हुआ। बिरसा रांची जिला के तमार थाना के चालकद गाँव के निवासी थे।

आन्तरिक शुद्धिकरण, सामाजिक परिष्कार, विदेशी शासन और विदेशी शासन के सहायक ज़मींदारी प्रथा का उन्मूलन कर स्वदेशी शासन अर्थात् स्वराज्य और सुराज की स्थापना बिरसा आन्दोलन का सुदूरव्यापी लक्ष्य था। लोक-शुद्धि, जीवन-शुद्धि, अन्तर्जीवन-शुद्धि के पश्चात् स्वातंत्र्य उपासना बिरसावादी लक्ष्य थे। छोटानागपुर के आदिवासी समाज में बिरसा मुण्डा भगवान के रूप में पूजित हुए और जनता में बिरसा भगवान हो गए। बिरसा का जीवन जनता जनार्दन और जगज्जननी भारत भाता की सेवा में पूर्णतया समर्पित था।

सन् 1895 ई. बिरसा ने एक नए पंथ का प्रवर्तन किया। बिरसा ने यह घोषणा की कि सिंगबोंगा से उसे यह आदेश मिला है कि आदिवासियों का अन्तर्मुखी और बर्हिमुखी शुद्धिकरण किया जाए। सिंगबोंगा का अर्थ है सर्वशक्तिमान एक परमात्मा। बोंगा अर्थात् देवता। बोंगा अनेक हैं, किन्तु सिंगबोंगा तो एक ही हैं—सर्वशक्तिमान सर्वप्रभुता सम्पन्न महाएक। बिरसा ने अपने अनुयायियों को यह शिक्षा दी कि अनेक बोंगाओं के समक्ष बलिदान की प्रथा समाप्त की जाए और केवल एक परमात्मा अर्थात् सिंगबोंगा की उपासना-पूजा की जाए। शुद्ध एवं पवित्र जीवन बिताया जाए। हंड़िया आदि अनेक प्रकार की नशीली वस्तुओं का बहिष्कार किया जाए। यज्ञोपवीत धारण

किया जाए। मांसादि का भक्षण न किया जाए। स्वच्छ निष्कलुष और पवित्र जीवन का पालन किया जाए।

वैयक्तिक जीवन और लोक-जीवन का पवित्र परिष्कार और सर्वोत्कृष्ट उन्नयन बिरसा मार्ग का पूर्वार्द्ध है। स्वराज और सुराज बिरसा मार्ग का उत्तरार्द्ध। बिरसा आन्दोलन अपने प्रारम्भ में एक धार्मिक सांस्कृतिक आन्दोलन था; किन्तु बाद में इसका राजनीतिक रूप विशेष प्रखर हो गया।

बिरसा के अनुयायियों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती गई, बिरसा के प्रति जनता का आकर्षण बढ़ता गया, श्रद्धा बढ़ती गई। बिरसा जनता की श्रद्धा का केन्द्र बन गए। देशी ईसाइयों ने भी बिरसा पंथ को सहर्ष स्वीकार किया। नए पैगम्बर, नए देवदूत के रूप में बिरसा का सम्मान हुआ और बिरसा 'धरती-आबा' के नाम से आदिवासी समाज में सुपरिचित हो गए। 'धरती आबा' अर्थात् संसार का पिता।

बिरसा का गाँव चालकंद (थाना तमार, जिला रांची) अगणित मुण्डाओं, आदिवासी जनता के लिए तीर्थस्थल के रूप में परिणत हो गया। बिरसा और बिरसावाद का प्रभाव आदिवासी समाज में पूर्णतया स्थापित हो गया। विदेशी सरकार के कान खड़े हो गये।

सन् 1895 ई. बिरसा ने आत्मशुद्धि का पंथ—बिरसा पंथ का निर्माण किया। बिरसा ने आत्मशुद्धि को लोकशुद्धि का विकसित रूप दिया था। आदिवासियों को नया जीवन मार्ग मिला—बिरसा मार्ग। बिरसामार्गियों की संख्या अप्रत्याशित रूप से बढ़ती गयी और बिरसावासियों ने विदेशी-शासन-उन्मूलन के महान् लक्ष्य पर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

बिरसा का लक्ष्य ब्रिटिश राज्य को समाप्त कर मुण्डा स्वशासी सरकार की स्थापना है— तत्कालीन अँग्रेज सरकार इसे जानकर काँप उठी; और उसने धूर्तता का आश्रय लिया। रांची के पुलिस सुपरिन्टेंडेंट मिस्टर मियर्स 24 अगस्त 1895 ई. को चालकंद गाँव गये—छिपकर, आदिवासियों या बिरसावादियों से अपने को छिपाकर। रात का सुनसान आलम। बिरसा— वह 'धरती आबा' रात्रि की गहन निद्रा में लिप्त। मिस्टर मियर्स ने अपने रूमाल को बिरसा के मुँह में जबरदस्ती ठूँस कर किसी तरह बिरसा का मुँह बन्द किया ताकि वह चिल्ला नहीं पाएँ। तब उसने बिरसा को गिरफ़्तार कर लिया और अपने हाथी पर उन्हें बलपूर्वक बिठाकर रांची ले गया।

बाद में, बिरसा के अन्य अनुयायियों अथवा अन्य प्रमुख बिरसापंथियों की गिरफ्तारी हुई। अंग्रेजों ने इसमें पर्याप्त कुटनीतिज्ञता का परिचय दिया।

नवम्बर, 1895 ई. में, रांची के डिप्टी कमिश्नर के इजलास में, रांची में भारतीय दण्ड-संहिता की 505वीं धारा और अन्य सम्बन्धित धाराओं के अन्तर्गत बिरसा और उनके पन्द्रह प्रमुख अनुयायियों का तथाकथित ट्रायल हुआ। उन सबों को दो-दो वर्षों के सश्रम कारावास की सजा दी गई। बिरसा को दो वर्षों के सश्रम कारावास के

अतिरिक्त पचास रूपए का जुर्माना भी किया गया। जुर्माना नहीं देने पर छः माह के अतिरिक्त सश्रम कारावास का दण्ड देने की व्यवस्था की गई। अन्य तथाकथित अभियुक्तों किन्तु महान सपूतों को दो-दो वर्षों के सश्रम कारावास के अतिरिक्त प्रत्येक पर बीस रूपए का जुर्माना किया गया। इसकी अदायगी नहीं होने पर तीन महीने के सश्रम कारावास की व्यवस्था थी।

महारानी विक्टोरिया के हीरक महोत्सव के पश्चात्, जनवरी, 1898 ई. में हज़ारीबाग़ जेल से बिरसा की मुक्ति हुई। जेल से छूटने के बाद बिरसा के उत्साह में विशेष अभिवृद्धि हो गई और बिरसा का ध्यान देश की ओर-विदेशी शासन के उन्मूलन की ओर-विशेष रूप से सचेष्ट हो गया।

कारामुक्ति के पश्चात् बिरसा ने एक युद्ध सेना का संगठन किया। धनुष, बाण और तलवार से लैस सेना। युद्ध सेना का संचालक गया मुण्डा को बनाया गया। खूंटी इस क्रान्ति-सेना का मुख्यालय था। रांची, चक्रधरपुर, तमार, बूंदू, कार्रा, तोरपा आदि अनेक स्थान बिरसा युद्ध-सेनानियों के प्रशिक्षण केन्द्र थे। बिरसा आन्दोलन का प्रत्येक कार्य युद्ध स्तर पर ही होता था। फरवरी, 1898 ई. से 24 दिसम्बर, 1899 ई. तक मुख्यतः रात के समय सेना के संगठन, कार्य-प्रणाली, भविष्य की कार्ययोजना, प्रचार आदि पर विचारार्थ बिरसा और बिरसा आन्दोलनकारियों की अनेक गोष्ठियाँ हुई थीं। बिरसा और बिरसा आन्दोलनाकारी अपनी गोष्ठियाँ पुलिस से बचने के लिए बहुधा रात्रि में ही करते थे।

अक्तूबर 1899 ई.। डुमरी पहाड़ी का अंचल। बेशुमार भीड़। जय धरती आबा। जय बिरसा भगवान। यह धरती हमारी है। विदेशी शासन का उन्मूलन हम करेंगे।

असंख्य बिरसानुयायियों में सूर्य की तरह दीप्तिमान धरती आबा-बिरसा। उस ऐतिहासिक विशाल सभा में बिरसा ने आदिवासी जनता पर विदेशी सरकार के अन्याय की गाथा सुनाई। अन्याय के विरुद्ध पूरी शक्ति से लड़ना होगा...युद्ध। युद्ध और युद्ध। युद्ध ही एकमात्र रास्ता है। स्वराज और सुराज की स्थापना हमारा लक्ष्य है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है – यह बिरसा भगवान की बाणी है। बिरसापंथियों में नए उत्साह का आलोक आया।

योजना बनी कि उसी वर्ष अर्थात् 1899 ई. के क्रिसमस के दिनों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध युद्ध का तूर्यनाद निनादित हो जाए। किन्तु 1899 ई. के क्रिसमस दिनों के पूर्व ही अंग्रेज शासकों के विरुद्ध छिटपुट आक्रमण बिरसापंथियों ने किये। अंग्रेजी शासकों में आतंक छा गया। 1899 ई. (दिसम्बर) के आक्रमण की योजना किस रूप में और कैसे चरितार्थ हुई, इतिहास इस पर मौन है।

7 जनवरी 1900 ई. का अपराह्न। खूंटी थाना पर लगभग तीन सौ वीर बिरसानुयायियों ने आक्रमण कर दिया। सभी बिरसानुयायी परम्परागत अस्त्र-शस्त्र से

सुसज्जित थे। तत्पश्चात् अंग्रेजी शासन का दमनचक्र चला। छोटानागपुर प्रमण्डल के कमिश्नर मिस्टर थोरबेस और रांची के डिप्टी कमिश्नर स्ट्रेटफिंड, डोरंडा (रांची) स्थित डेढ़ सौ देशी सिपाहियों के साथ बिरसानुयायियों को परास्त करने के लिए चल पड़े। साइको से लगभग तीन मील दक्षिण डुमरी पहाड़ी पर अनुमानतः दो हजार बिरसानुयायियों का सुरक्षा-पड़ाव था। सुरक्षा के लिए बिरसा आन्दोलनकारियों ने यत्र-तत्र युद्धस्तरीय व्यवस्था कर ली थी। उनके साथ औरत, बच्चे, बूढ़े थे—भोजन, कपड़े-लत्ते और बर्तन आदि भी। गाँव छोड़कर वे लोग डुमरी पहाड़ी पर आकर छिपे थे, क्योंकि डुमरी पहाड़ी उनके स्वतन्त्रता संग्राम के महान संकल्पों की साक्षी थी। डुमरी पहाड़ी के अंचल में ही, इसके कुछ माह पूर्व, अक्टूबर, 1899 ई. में बिरसा और बिरसापंथियों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति की सम्मिलित शपथ ली थी।

बिरसामार्गियों को किसी प्रकार का अवसर या सूचना दिए बिना ही डिप्टी कमिनश्र स्ट्रेटफिल्ड ने अपनी सेना को अनवरत गोली वर्षा करने की कठोर आज्ञा दे दी। बिरसानुयायी गोलियों की भीषण वर्षा झेलते हुए भावी स्वतन्त्रता का मूल्य चुकाते रहे। किन्तु अधिकांश बिरसानुयायियों ने अपने को पहाड़ी में, झाड़ियों में किसी तरह बचा लिया। हाँ, औरतों और बच्चों सहित लगभग दो सौ बिरसानुयायी शहीद हुए। शहीदों के पवित्र शव पहाड़ी के गड्ढों और निकटवर्ती नदियों में बड़ी बेरहमी के साथ अंग्रेज शासकों द्वारा फेंकवा दिए गये। उन शहीदों का अन्तिम संस्कार भी नहीं हो सका। गुटूहातु नामक स्थान में दो बड़ी-बड़ी खाइयाँ खोदी गई थीं, जिनमें बहुत से शहीदों के पवित्र शव अँग्रेज शासकों द्वारा एक-साथ जला दिए गए थे। उन खाइयों में अनेक जख़्मी जीवित बिरसानुयायी भी जला दिये गये थे।

किन्तु बिरसा? वह नहीं मिले। 9 जनवरी 1899 ई. को डुमरी पहाड़ी की गोली वर्षा को झेलने से बिरसा और गया मुण्डा संयोगवश बच गये थे। तब धरती के ये दोनों महान् पुत्र युद्ध-सेना को सुसंगठित करने के लिए गाँव-गाँव घूम रहे थे।

तत्पश्चात् गया मुण्डा एटकी गाँव में शहीद हुआ। गया मुण्डा ने वीर गति पायी। बिरसा सिंहभूम के जामकोपाई (चक्रधरपुर) के जंगलों की ओर चले गये। वे अंग्रेजों से सीधा युद्ध करने के पूर्व अपनी सैन्य शक्ति सुसंगठित कर लेना चाहते थे। बिरसा दिन भर जंगलों में रहते, युद्ध-नीति पर विचार-मन्थन करते और रात्रि में निकटवर्ती गाँवों में अपनी सैन्य शक्ति सुसंगठित करने के हेतु जाते। रोगोटो नामक स्थान को बिरसा ने क्रान्ति का केन्द्रस्थल बनाया था।

छोटानागपुर के कमिश्नर एवं अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने बिरसा और बिरसा आन्दोलनकारियों को किसी भी क़ीमत पर गिरफ़्तार करने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। किन्तु सरकार को सफलता नहीं मिली। कुछ गद्दारों ने बिरसा महान् का पता अंग्रेज शासकों को दे दिया। 3 फरवरी 1900 ई. को संकरा गाँव से लगभग डेढ़ मील पश्चिम जंगल में, एक वृक्ष की छाया में सुषुप्त महान् बिरसा

अकस्मात् एवं नाटकीय ढँग से गिरफ्तार कर लिये गये। महान् बिरसा आत्मरक्षा के लिए अपने किसी अस्त्र-शस्त्र का उपयोग भी नहीं कर सके। गिरफ्तारी के क्षण धरती का यह महान् सपूत निद्रावस्था में था।

भारी फौज़ी दस्ते के साथ बिरसा रांची लाए गए। 30 मई, 1900 ई. को बिरसा को हैजे का आक्रमण हुआ और हैजा के फलस्वरूप ही 2 जून, 1900 ई. को उनका प्राणान्त हो गया। आजादी की जलती हुई मशाल बुझ गयी। बिरसा-ज्योति बुझ गयी। शहादत की एक बड़ी मीनार टूट गई।

अंग्रेजी सरकार का दमनचक्र पूरी उग्रता तीव्रता और कठोरता के साथ चलने लगा। बिरसा आन्दोलनकारियों, बिरसा के सहकर्मियों, बिरसापंथियों, बिरसानुयायियों को सरकार पूरी बेरहमी के साथ कुचलने लगी। सरकार की क्रूरता से बचने के लिए अनेक बिरसावादियों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था—यह एक अलग कहानी है।

यह सच है कि अब महान् बिरसा का पार्थिव शरीर नहीं है; किन्तु हमारे देश का इतिहास उनकी शहादत के तेजपुंज से सदा आलोकित रहेगा। बिरसा की वीरता और बलिदान की ओजस्वी गाथाएँ हमारी भावी पीढ़ियों को सदा अनुप्राणित और प्रेरित करती रहेंगी।

श्री अरविन्द दर्शन और मानवता

किशोरी लाल व्यास*

आधुनिक भारत के चिन्तनशील विचारकों एवं प्रतिभाशाली महापुरुषों में श्री अरविन्द का स्थान हिमगिरि शिखर जैसा अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं सर्वश्रेष्ठ है।

श्री अरविन्द जन्मतः बंगाली थे। वे अपने जीवन के 14 वर्ष इंग्लैण्ड में बिताकर बड़े हुए थे। वहीं आपने पाश्चात्य साहित्य व दर्शन का गहन अध्ययन एवं मनन किया। भारत लौटते समय वे पूर्णतः पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के महान् वैचारिक भण्डार को आत्मसात् किए हुए थे। भारत में आपने बड़ौदा के कॉलेज में प्राध्यापक का कार्य शुरू किया व योगसाधना आरम्भ की। बड़ौदा निवास काल में आपने भारतीय दर्शन, परम्पराओं, तथा विचारधाराओं का अध्ययन किया व कई भारतीय भाषाओं के साहित्य का भी गम्भीर अध्ययन किया। इसी काल में वे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। जेल भी गये। वन्देमातरम् पत्र निकाला।

भारत की प्रमुख साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित श्री अरविन्द अलीपुर बम केस में अलीपुर की जेल में बन्द किये गये। इस जेल अवधि में जो प्रायः एक वर्ष की थी, आपने स्वानुभूति पर आधारित गीता का नवीन सिरे से मनन किया व उपनिषदों का गहन अवगाहन किया। जेल से छूटकर आप पांडिचेरी (दक्षिण भारत) चले गये व वहाँ तमिल भाषा का गम्भीर अध्ययन कर दक्षिण के महापुरुषों के विचारों को आत्मसात् किया। इस प्रकार श्री अरविन्द की विचार त्रिवेणी में पूर्व के उत्तर-दक्षिण व पश्चिम के समस्त ज्ञान-विज्ञान का सम्यक् सामंजस्य अनायास ही हो गया। श्री अरविन्द ने योगी होने से कई सत्यों का सहज ही साक्षात्कार किया व नये सिरे से हर दार्शनिक विचारधारा का मनन किया।

श्री अरविन्द के समस्त दर्शन का मूलाधार भगवद्गीता का भागवत प्रकाश है, जिसकी साधना-पद्धति के प्रकाश में आपने योग-वेदान्त, वेद-वेदान्त, वेद-उपनिषद-तंत्र

*के. एल. व्यास डॉ. किशोरी लाल व्यास, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद, फोन. नं. 040-23044660

व वैष्णव सभी को समन्वित कर लिया। इस तरह श्री अरविन्द दर्शन के मूल स्रोत हमें गीता व उपनिषदों के शिखरों तक ले जाते हैं। श्री अरविन्द के विषय में डॉ. श्यामबहादुर वर्मा ने ठीक ही कहा है :

''श्री अरविन्द के विचार-दर्शन की सीमा मानवता ही नहीं है, वे उससे भी आगे बढ़ते हैं। मानवता, राष्ट्र, व्यक्ति, सभी प्राणी, जड़-चेतन आदि उस विचार की परिधि में आते हैं। यहाँ वेदान्त, सांख्य, योग, पाश्चात्य दर्शन आदि सभी अपना उचित स्थान पाते हैं। द्वैत, अद्वैत, मायावाद, बौद्ध दर्शन आदि के साथ ही पता नहीं कितनी अन्य दार्शनिक धाराएँ इस भगीरथी में आकर मिली हैं किन्तु गंगा जैसे अपनी प्रमुखता के कारण सब धाराओं के सम्मिलित स्वरूप में भी गंगा ही कहलाती है, वैसे ही श्री अरविन्द का तत्त्वदर्शन भी वेदान्त ही कहलाता है और अधिक स्पष्टता के लिए उसे ''यथार्थवादी वेदान्त'', ''सक्रिय वेदान्त'' इत्यादि भी कह दिया जाता है। तथापि यह तत्त्वदर्शन सचमुच तत्त्वदर्शन है, केवल ''फिलॉसफी'' नहीं, 'विचारों की बुनाई' मात्र नहीं। यह साधना से अनुभूत सामग्री का बौद्धिक व्यवस्थापन है। अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से विश्व की अनेकता और ब्रह्म की एकता के सम्बन्धों व रहस्यों का विश्लेषण, विवेचन तथा उद्‌घाटन है। यह बौद्धिक उड़ान न होकर परतत्त्व तक के अगणित लोकों की आध्यात्मिक यात्रा का अत्यन्त सजीवता, निष्ठा तथा अन्य अभिव्यक्ति के साथ नवीनतम वर्णन है।''

श्री अरविन्द को महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों के प्रति अपार निष्ठा थी। आपने वेद का मूल आशय आध्यात्मिक माना है व एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की भूरि-भूरि श्रद्धापरक प्रशंसा की है। आपका रहस्य ग्रन्थ मानो भारतीय सांस्कृतिक गौरव ग्रन्थ की गौरवपूर्ण प्रतिभा द्वारा रखा गया आध्यात्मिक संविधान है। वेद संहिता भारतवर्ष के धर्म, सभ्यता और अध्यात्म-ज्ञान का सनातन स्रोत है।

श्री अरविन्द ने वैदिक प्रतीकों का आवरण हटाकर उनके वास्तविक आशयों को स्पष्ट किया है।

उपनिषदों के तत्त्वज्ञान के प्रति श्री अरविन्द की गहरी निष्ठा है।

आपने जिन उपनिषदों के दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में कहा है :—

''उपनिषद् शब्द का अर्थ है गूढ़ स्थान में प्रवेश करना। सम्यक् ज्ञान की चाभी मन की निभृत कोठरी में लटक रही है। सम्यक् ज्ञान तर्क आश्रित नहीं है। ऋषियों ने मन की इस निभृत कोठरी में प्रवेश कर वह चाभी प्राप्त की और अभ्रान्त ज्ञान के विशाल राज्य के राजा बने। योगद्वार ही प्राप्त हो सकता है—साक्षात् दर्शन।''

श्री अरविन्द परम् देशभक्त थे अतः आपने सारे के सारे दर्शन की जड़ में भारत का कल्याण एवं विश्व मानवतावाद का मधुर निस्वन गूँज रहा है। श्री अरविन्द के महत्त्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ ये हैं :

1. दिव्य जीवन	Life divine
2. योग समन्वय	Synthesis of Yoga
3. सावित्री	Savitri
4. गीता प्रबन्ध	Essays on Gita
5. मानव-चक्र	The Human Cycle
6. भावी कविता	Future Poetry
7. वेद रहस्य	Secret of Vedas

श्री अरविन्द की दार्शनिक विचारधारा उनके इन प्रमुख ग्रन्थों में तो प्रतिपादित हुई है; साथ ही आपके भाषण, विविध लेख व छोटे-छोटे ग्रन्थ आपकी विचारधारा के संदेशवाहक प्रदीप्त दीप हैं।

श्री अरविन्द स्वयं महाकवि थे साथ ही योगी, महान् अध्येता एवं बहुभाषाविद् व राष्ट्रभक्त मानवतावादी चिन्तक थे। इन सारी विशेषताओं के कारण आपके साहित्य में संजीवनी शक्ति एवं नवजीवन देने वाली प्रेरणा अनुस्यूत है।

श्री अरविन्द इस जगत् को सत्य मानते हैं और कहते हैं कि यह जगत् स्वयं परमात्मा की अभिव्यक्ति है तो फिर असत्य कैसे हो सकता है। ''सर्व खल्विदं बह्म'' यह सूत्रस मानो श्री अरविन्द के दर्शन की कुञ्जी है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि यह विश्व सत् तत्त्व की आत्माभिव्यक्ति, चित् की सृष्टि एवं आनन्द की महायात्रा है अतएव सच्चिदानन्द का ही विस्तार है यह जगत् व जगत् का विस्तार।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि जीवन इसी ''सच्चिदानन्द'' को प्राप्त करने के लिए यात्रा करता हुआ आगे बढ़ रहा है, जिसे उन्होंने चेतना का क्रम विकास नाम दिया है। जड़ प्रकृति जब अपनी छंदोबद्ध निद्रा में डूबी रहती है और उसकी मूक और गम्भीर जड़ समाधि में भी उसकी क्रियाशक्ति की व्यवस्थित कर्मधारा को जारी रखने वाली दिव्य आत्मा और दिव्य भावना के विषय में वह अचेतन होती है, तब उस अवस्था में से बाहर निकलकर यह जगत् आत्म-चैतन्य के प्रति उन्मेषोन्मुख प्राण से अधिक शिप्र, विविध ओर व्यवस्थित छंद में प्रवेश करने की चेष्टा करता है। प्राण से निकलकर यह जगत् मन में ऊपर उठने की चेष्टा करता है, जहाँ व्यष्टि को स्वयं अपना और अपने जगत् का बोध होता है और इस जागृति में विश्व को उसके चरम कर्म के लिए आवश्यक साधन की प्राप्ति हो जाती है, वह आत्मचेतन व्यक्तित्व को पा जाता है। कर्म का अगला गढ़ने वाला सचेतन अतिमानस है जो स्वयं अतिमानव है। इसलिए हमारे जगत् को मन के परे जाकर उस उच्चतम तत्त्व, उस उच्चतर पद, उस उच्चतर कर्मण्यता में ऊपर उठना अभी बाक़ी है, जहाँ विश्व और व्यक्ति उसको जान और पा जाते हैं।[2]

श्री अरविन्द कहते हैं कि यह सारी सृष्टि-पृथ्वी से सच्चिदानन्द पर्यन्त-मानो सप्त धामों के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसके पादतल में भूमण्डल है वह शीर्ष पर परमात्मा का ज्योतिर्मय लोक है।

''पृथ्वी को भागवत् तत्त्व का पादपीठ कहा गया है व द्युलोक को ईश्वरीय सत्ता का शीर्ष स्वीकार किया गया है। इस द्युलोक को ही ब्रह्मलोक या गोलोक या साकेत कहा गया है। क्योंकि ''गो'' शब्द का अर्थ प्रकाश भी है।''[3]

पृथ्वी की पीठ पर आसीन जीवन का निवर्तित स्वरूप प्रथमतः प्राण में तदनन्तर मन में व अब विज्ञान में पुष्पित होना चाहता है।

''विज्ञान'' यह भगवान का चतुर्थ धाम या चतुर्थ लोक है जिसे इस्लाम में चौथा आसमान कहा गया है।

ये सप्तधाम व सप्तलोक चेतना के सात सोपान हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

भू-पृथ्वी

भुवः—अन्तरिक्ष या प्राण

स्वः—मन या स्वर्ग

महः—विज्ञान

जनः—आनन्द

सत्यमूः—सत्[4]

''वैदिक प्रतीकवाद का एक दूसरा आवश्यक अंग है, लोकों का संस्थान और देवताओं के व्यापार। लोकों के प्रतीकवाद का सूत्र मुझे व्याहृतियों के वैदिक विचार में,''ॐ भूर्भुवः स्वः'' इस मंत्र के तीन प्रतीकात्मक शब्दों में और चौथी व्याहृति ''महः'' का आध्यात्मिक अर्थ रखने वाले ''ऋतम्'' शब्द के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें मिल गया। ऋषि विश्व के तीन विभागों का वर्णन करते हैं पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ। ''महः'' विज्ञान का लोक है। पौराणिक सूत्र में तीन अन्य ''जनः'' ''तपः'', ''सत्यम्'' से मिलकर पूर्ण होते हैं। परन्तु वेदान्तिक और पौराणिक सम्प्रदाय में ये सात लोक आध्यात्मिक तत्त्वों या सत्ता के सात रूपों-सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मनः प्राण, अन्न (या जड़ शरीर) को सूचित करते हैं। इस सिद्धान्त पर मैं वैदिक लोगों की तदनुसारी चेतना के आध्यात्मिक स्तरों के साथ एकता स्थापित कर सका और तब सारा ही वैदिक संस्थान मेरे मन में स्पष्ट हो गया।''

''वैदिक ऋषियों का केन्द्रभूत, विचार था कि मिथ्या का सत्य से, विभक्त तथा सीमाबद्ध जीवन का सम्पूर्णता तथा असीमता से परिवर्तन करके, मानवीय आत्मा को मृत्यु की अवस्था से निकालकर अमरता की अवस्था तक पहुँचा देना। मृत्यु है मन और प्राणसहित शरीर की मर्त्य अवस्था, अमरता है। असीम सत्ता, चेतना और आनन्द की अवस्था। मनुष्य मन और शरीर से ऊपर उठकर सत्य की असीमता, ''महः'' या

''विज्ञान'' में या दिव्यमुख में पहुँच जाता है। यही वह ''महापथ'' है, जिसे ऋषियों ने खोजा था।''[5]

''चेतना के ये सप्तलोक या सप्तधाम पुराण-साहित्य में सप्त व्याहृतियों के रूप में वर्णित हैं। ये सप्तधाम की वह सीढ़ी है जिस पर क्रमशः जीव चढ़ता-चढ़ता परमात्मा के अनंतत्त्व में उठा जाता है।''

अद्यावधि निवर्तित चेतना के तीन दल खिले हैं जो जड़, प्राण व मन रूप में प्रकट हुए हैं। मन ही क्रम विकास का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। श्री अरविन्द की मान्यता है कि चौथा लोक या चौथा स्तर जो विज्ञान कहलाता है, वह पृथ्वी पर प्रकट होने के लिए तैयारी में है। यह चतुर्थ लोक जब प्रकट होगा तब धरती पर देवजाति का जन्म होगा या मानव में देवतत्त्व जागृत हो जाएगा या नर में नारायण प्रकट हो जाएँगे। मानव-जाति का स्वर्णिम भविष्य यही विज्ञानमय पुरुष का प्राकट्य है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि वह चौथा स्तर पृथ्वी पर वे अपने तपोबल से ला चुके हैं। वह शक्ति धराचैतन्य में अवतरित होकर कार्य कर रही है। यही कारण है कि उस पवित्र व ज्योतिर्मय शक्ति के दबाव से सारा पृथ्वी का कूड़ा-करकट जो मानव चेतना में पड़ा है उभर गया है। पृथ्वी के पार्थिव धरातल को भी उस पवित्र शक्ति ने झकझोर दिया है। यही कारण है कि सारा भूमण्डल उठते हुए कचरे के विषाक्त धुएँ से भर गया है और इसी से सारा भौतिक जीवन आज विराट अस्तव्यस्तता के पुलिन पर खड़ा है। परन्तु इस अस्तव्यस्तता एवं भयंकर ध्वंस व विनाश के बीच से नई मानवता जन्म लेगी जो स्वर्णिम मानवता होगी, जिसे देवजाति या भागवतजाति या भगवान की भूतिपाद जाति कहा जाना समीचीन होगा।[6]

श्री अरविन्द ने वैयक्तिक मुक्ति या सिद्धि के लिए प्रयत्न नहीं किया। समग्र विश्व एवं समग्र मानव जाति का उद्धार ही उनका अभिप्रेत था।

योग ही वह जगत् राजमार्ग है, जिसके प्रभाव से प्रकृति का रूपान्तरण होगा व पृथ्वी की माटी में नवचैतन्य का प्रादुर्भाव होगा। श्री अरविन्द की योग विषयक धारणा मात्र आसन या प्राणायाम न होकर सर्वांगीण योग या अध्यात्म योग की महत्तर प्रणाली है। इस अध्यात्मक योग में निष्कामकर्म व पूर्णरूप से आत्मसमर्पण की राह दिखाई गई है। इस समर्पण व निष्काम कर्मयोग के साथ श्री अरविन्द ने समस्त योगमार्गों का समन्वय साधित कर उसे मानव-मात्र के लिए अनुकरणीय बना दिया है।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि विश्व की अब तक की प्रचलित दार्शनिक प्रणालियाँ राजनीति के विविध प्रयोग एवं धर्म के विविध स्वरूप मानव को चिरस्थायी आनन्द या शान्ति नहीं दे पाए हैं। राजनीति मानव को सुखी बनाने में असफल हुई है, धर्म पंगु व दर्शन निष्क्रिय। इस समय तो मानव को अध्यात्म का महत्तर प्रकाश ही राह दिखा सकता है।

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मा अमृतंगमय।[7]

''धर्म ग्रन्थ, धर्म मन्दिर, धर्म संघ, धर्म शास्त्र, दर्शन-शास्त्र इत्यादि मनुष्य जाति की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं, क्योंकि बाह्यचारों में संलग्न वे आत्मा की शुद्धि व शक्ति की अवहेलना कर बैठे हैं जो बात मानवजाति की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। धर्मांधता तथा बाह्यचारों का युग लद गया। अब तो आत्म-साक्षात्कार ही करना होगा। अध्यात्म के विकास द्वारा ही सद्वृत्तियों का विकास सम्भव हैं।''

इन अध्यात्म के सिद्धान्तों व अनुभूतियों में ढला मानव-समाज चिरस्थायी शान्ति लाभ करेगा। मनुष्य को सतत अन्तर्मुखी बनना होगा।

श्री अरविन्द अपने एक निबन्ध ''हमारा योग और उसका उद्देश्य'' में इन विचारों का सविस्तार प्रतिपादन करने के उपरान्त कहते हैं कि जब यह योग कुछ लोगों में सिद्ध हो जाएगा तो उनके संक्रमणशील प्रभाव से सारी मानव-जाति को लाभ होगा। मानो वह परमात्मा का भूमि पर क्रमवर्धमान अवतरण होगा।

''हमें इस जगत् में इस दिव्य विद्युत शक्ति के एक डायनामों की तरह कार्य करना होगा तथा इस विद्युत-शक्ति को थरथराहट और जगमगाहट के साथ सारी मनुष्य जाति के अन्दर संचारित करना होगा, जिसमें जहाँ कहीं हममें से कोई भी एक आदमी खड़ा हो वहाँ उसके चारों ओर हज़ारों मनुष्य भगवान की ज्योति और शक्ति से भर जाएँ, भगवानमय और आनन्दमय बन जाएँ।''[8]

इस संसिद्धि के लिए जहाँ मानव को अपनी ओर से प्रयत्न करना है, वहाँ भगवान की कृपा शक्ति या माता की भी सहायता प्राप्त नहीं चाहिए। श्री अरविन्द अपनी 'माता' पुस्तक में इस प्रक्रिया में मातृशक्ति की अपरिहार्य सहायता की चर्चा करते हैं व उनको पूर्णतया आत्मसमर्पण करने को कहते हैं। भगवती माता ही सारे विघ्नों को उच्छेद कर मानव के पार्थिव मृत्तिकापात्र में स्वर्ग का ज्योतिर्मय अमृत उड़ेलकर उसे दिव्यत्व में ढाल देगी।

मानव का विज्ञानमय मानव के रूप में रूपान्तरित होना ईश्वरीय योजना है। किन्तु इसके लिए यह प्रथम आवश्यकता है कि हमारे मन में तीव्र अभीप्सा उत्पन्न हो।

मनुष्य को कमल के फूल की तरह कीचड़ से ऊपर उठना होगा। दिव्य रश्मियों से ऊर्जा तथा तेज प्राप्त करने के लिए अपनी सारी पंखुड़ियाँ खोलनी होंगी। ऐसा करने पर ही आत्म-साक्षात्कार सम्भव है।

महर्षि अरविन्द के अनुसार- मानव चेतना का विस्तार, ऊर्ध्वीकरण व उदात्तीकरण अपरिहार्य है। विश्वशान्ति की यहीं सच्ची नींव होगी।

श्री अरविन्द के योग और दर्शन का सार है– वह गतिशील चेतना जिसे अतिमानस (सुप्रामेंटल) कहा जाता है।

श्री अरविन्द का लक्ष्य यह था कि अतिमानस को अवतरित कर एक नई मानवता की सृष्टि की जाए, जो 'उच्च आत्मपूर्णतः' का आनन्द ले और प्रत्येक क्षेत्र में दिव्य-जीवन-यापन करें। इसी लक्ष्य को लेकर उन्होंने अपने आपको तथा माताजी को 'अतिमानसिक' स्थिति तक उठाकर नयी मानव जाति के लिए आरम्भिक केन्द्र तैयार करने का प्रयत्न किया। इसका कार्य मनुष्य की दिव्य अन्तःप्रकृति को मूर्त रूप देना है।'' अरविन्द के कार्य को माता जी ने आगे बढ़ाया। वे कहती हैं :–''हमारा साधारण लक्ष्य है– विश्व में 'विकासशील समन्वय' लाना और परस्पर विरोधी तत्त्वों में 'समस्वरता' (Harmony) पैदा करना। धरती पर इसे प्राप्त करने के लिए मानव एकता की बहुत ज़रूरत है और इसके लिए ज़रूरी है कि सबके अन्दर एक और अविभाज्य 'दैवी तत्त्व' जागृत हो उठे।''

'सावित्री' महाकाव्य में अरविन्द दर्शन मूर्त हो उठा है। इसके अतिरिक्त अरविन्द जी ने समय-समय पर अनेक छोटी-बड़ी कविताएँ लिखीं, लो उनकी साधनात्मक अनुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान करती हैं। उदाहरणार्थ :–

''स्वर्गानुरक्त, सैकत-तट पर तरु खड़ा एक,
नभ ओर भुजाओं-सी शाखाएँ फैलाता।
हो विफल किन्तु जड़ धरती के आकर्षण से,
ऊपर न मृत्तिका की माया से उठ पाता।
यह है आत्मा, मानव स्वरूप जिसकी शाश्वत्

–स्वर्गिक उड़ान

हैं नीचे रोके हुए खड़े, रजपाश-बद्ध मन, देह प्राण।

अनुवाद : नीरज

प्रस्तुत कविता में वृक्ष को प्रतीक बनाकर 'जड़-चेतन' के सम्बन्ध को व्यक्त किया गया है।

ऑरोविल की स्थापना

'ऑरोविल' का अर्थ है : 'उषा नगरी'। 5 दिसम्बर, 1950 को श्री अरविन्द ने महासमाधि ले ली। पर उनका कार्य यथावत् जारी रहा। माता जी ने उसे पूर्ण करने का संकल्प लिया।

विश्वभर में फैले अरविन्द के अनुयायियों ने महर्षि द्वारा प्रतिपादित मार्ग को प्रशस्त करने और विश्व-सभ्यता केन्द्र की स्थापना हेतु 1960 में ''श्री अरविन्द सोसायटी'' की स्थापना की। इस संस्था ने पांडेचेरी के पास ऑरोविल नामक एक

अन्तर्राष्ट्रीय नगर बसाने की योजना बनायी, जिसका शिलान्यास 28 फरवरी, 1968 को हुआ।

'ऑरोविल' भावी विश्व का एक स्वप्न है, जिसमें विश्व का कोई भी नागरिक रह सकता है और उच्च मानवीय मूल्यों का संधान कर सकता है। माता जी के शब्दों में, ''ऑरोविल एक ऐसा सार्वभौम नगर होगा जहाँ सब देशों के नर-नारी शान्ति की ओर बढ़ते हुए सामंजस्य के साथ रह सकें। वह राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, वर्ण, मत-मतांतर, राजनीति आदि से परे होगा। ऑरोविल का उद्देश्य है– मानव एकता को सिद्ध करना।''

इस नगर की नींव में विश्वभर के देशों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने देश की मिट्टी और अपनी प्रमुख नदी का जल अर्पित किया। विश्व एकता का यह प्रतीक है।

ऑरोविल एक आत्मनिर्भर नगर है जिसमें कृषि, डेयरी, बागबानी, पशु-चारण, शिक्षा से लेकर संस्कृति और अध्यात्म का कार्य सुचारू रूप से सहज ही चलता रहता है। यहाँ कोई नागरिकता नहीं होती। सारे निवासी इस अध्यात्म नगरी के निवासी होते हैं। ऑरोविल मानो श्री अरविन्द के विश्व-संस्कृतिक के निर्माण का साकार रूप है।

ऑरोविल वस्तुतः एक दार्शनिक कवि की कल्पना का साकार रूप है, जहाँ सारा विश्व एक 'नीड़' बन जाता है और सारे मानव उसके पक्षी बन जाते हैं।

संदर्भ

1. श्री अरविंद साहित्य दर्शन–डॉ. श्याम बहादुर वर्मा : पृ. 138
2. दिव्य जीवन : विश्व में मानव : श्री अरविंद, पृ. 62
3. दिव्य जीवन : विश्व में मानव : श्री अरविंद, पृ. 71
4. दिव्य जीवन : श्री अरविंद, पृ. 60
5. वही, पृ. 60
6. वेद रहस्य : श्री अरविंद, पृ. 61
7. उपनिषद : शांतिपाठ : पृ. 34
8. हमारा योग और उसका उद्देश्य : श्री अरविंद पृ.
9. श्री अरविंद : जन्म : 15 अगस्त 1872 कलकत्ता, महासमाधि : 5 दिसंबर : 1950 पाण्डेचेरी

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा : एक बहुआयामी व्यक्तित्व

मनोज कुमार अम्बष्ट*

''ज़िन्दगी की सवारी कोई बोरे की तरह लदकर करता है, कोई जान पर खेलकर सरकस के नट की तरह और कोई-कोई गंगा की मौजों पर लरजते बजरे पर शान से तकिया लगाकर बैठे उस रईस की तरह, जिसके मुँह में चाँदी के कलापूर्ण हुक्के की नली हो, तटवर्ती दृश्यों पर जो निगाह भी डालता हो और रिमार्क भी करता हो, और जो एक चक्रवर्ती महाराज की भाँति भूनिक्षेप सहित अभयदान तथा आदेश प्रदान करता हो। डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा इसी श्रेणी के जन्मजात चक्रवर्ती सर्वेक्षक थे। ''—जगदीश चन्द्र माथुर

बिहार के वर्तमान बक्सर जिलान्तर्गत मुरार स्थित लखनऊआ टोला में दिनांक 10 नवम्बर 1871 ई. को एक कुलीन कायस्थ परिवार में बख्शी रामयाद सिन्हा के पुत्र के रूप में पैदा सच्चिदानन्द सिन्हा बिहार के एक ऐसे सपूत थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से न केवल बिहार बल्कि पूरे देश को प्रभावित किया और तत्कालीन सामाजिक, साहित्यिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, राजनीतिक और पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हुए उसे एक नया आयाम दिया। उनके डिनर टेबल की चर्चा भले ही धुँधली पड़ गई हो, पर उन्हें विस्मृत कर देना आधुनिक बिहार के अस्तित्व को नकारने जैसा होगा। शैक्षणिक यात्रा जिला स्कूल, आरा (1877), टी.के. घोष एकेडमी, पटना (1886),

प्रारम्भिक जीवन

पाँच वर्ष की अवस्था में गणेश तथा सरस्वती की पूजा के उपरान्त एक मौलवी, एक ब्राह्मण तथा दूसरे दिन अँग्रेजी के एक शिक्षक के हाथों विद्यारम्भ से शुरू उनकी

* डॉ. मनोज कुमार अम्बष्ट : फ्लैट सं-204, रीना रेसिडेन्सी, रोड नं-23, श्री कृष्ण नगर, पटना-800001, मो.-9430200800, ई-मेल-mkambastha@gmail.com

पटना कॉलेज (जुलाई, 1888), सिटी कॉलेज, कलकत्ता (सितम्बर, 1889) से गुजरते हुए तत्कालीन रूढ़ियों और सामाजिक वर्जनाओं को दरकिनार करती हुई दिनांक 26 जनवरी, 1889 ई. को रवाना होकर दिनांक 5 फरवरी, 1890 ई. को लन्दन पहुँचकर मिडल टेम्पल, लन्दन (3 अप्रैल, 1890 ई.) तक पहुँची, जहाँ दिनांक 26, जनवरी 1893 ई. को बार-एट-लॉ होने के उपरान्त घर वापसी तक पूरी होती है। वे इंग्लैण्ड जाने वाले प्रथम बिहारी हिन्दू थे। पर, वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने किसी भी प्रकार का प्रायश्चित करने से इन्कार कर दिया, जो तत्कालीन समाज द्वारा विदेश जाने पर अपवित्र माने जाने के कारण आवश्यक था। अप्रैल 1893 ई. में कलकत्ता उच्च न्यायालय में अधिवक्ता के रूप में पंजीकृत होकर वे पटना में वकालत करने लगे। दिनांक 25 जुलाई 1894 ई. को उन्होंने अपनी जाति के ही एक वर्ग में लाहौर के प्रतिष्ठित बैरिस्टर सेवा राम की इकलौती पुत्री राधिका का पाणिग्रहण किया। उस ज़माने में अंतर्जातीय और अंतर्प्रान्तीय विवाह एक बड़ी घटना थी। पटना में स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण नवम्बर 1896 ई. से वे इलाहाबाद उच्च न्यायालय में वकालत करने लगे। पुनः 1906 ई. में वे पटना लौटे और वकालत करने लगे।

बिहार गठन एवं विकास के अग्रनायक

भारत के भौगोलिक नक्शे पर बिहार की प्रशासनिक अनुपस्थिति से इंग्लैण्ड में उनको पहुँची ठेस उनके मन में घर कर गई और उन्होंने मन ही मन बिहार को यह सम्मान दिलाने का संकल्प कर लिया। बंगाल से पृथक कर बिहार को प्रान्त का दर्जा दिलवाना प्रारम्भिक दिनों में डॉ. सिन्हा का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान है। तब लोअर प्रोविन्सेस के रूप में प्रसिद्ध बिहार के शिक्षित नौजवान बंगाल में बेराज़गारी और उपेक्षा का दंश झेल रहे थे।

सिन्हा साहब ने महेश नारायण, राय बहादुर कृष्ण सहाय, तथा गया निवासी नन्द किशोर लाल (इन चारों को 'चहर दरवेश' (चार भिखारी) की संज्ञा दी गयी।) के साथ मिलकर 'बिहार फॉर द बिहारीज' आन्दोलन की शुरुआत की। इसके लिए सर्वप्रथम नन्द किशोर लाल ने गया में दिनांक 3 दिसम्बर, 1894 ई. को बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर चार्ल्स एलिऔट तथा पुनः दिनांक 9 जुलाई, 1896 ई. को लेफ्टिनेंट गवर्नर सर अलेक्जेंडर मकेंजी के समक्ष ज्ञापन दिया। यह कोई जन आन्दोलन नहीं, बल्कि बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा चलाया जाने वाला आन्दोलन था। 'बिहार टाइम्स' उनका मुख्य हथियार बना तथा सन् 1906 ई. में सच्चिदानन्द सिन्हा ने महेश नारायण के साथ कई पृष्ठों का 'द पार्टिशन ऑफ बंगाल ऑर दर सेपेरेशन ऑफ बिहार' (1906) नामक पुस्तिका निकाली, जिसके व्यापक प्रसार ने इस विषय को बहुचर्चित बना दिया। बिहारी छात्र सम्मेलन (1906), बिहार प्रान्तीय

सम्मेलन (1908) तथा बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति (1908) के आयोजन द्वारा भी उन्होंने अपनी माँग को व्यापकता प्रदान की। कलकत्ता स्थित प्रेस वालों ने उनकी माँग का जमकर विरोध किया और उन पर 'स्वार्थ से प्रेरित' होने का दोषारोपण भी किया। कांग्रेस पार्टी और यहाँ तक कि डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भी दलगत नीतियों के कारण इससे अलग रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भी भाषायी आधार राज्यों के पुनर्गठन का एक मुख्य आधार बना। सिन्हा साहब ने इस भावना को राष्ट्रवाद के विरुद्ध न मानकर 'उप राष्ट्रवाद' (सब नेशनलिज्म) के रूप में स्थापित किये। धीरे-धीरे बिहार के और भी बुद्धिजीवी इस आन्दोलन से जुड़े और दिनांक 12 दिसम्बर, 1911 ई. को ब्रिटिश सम्राट द्वारा दिल्ली दरबार में बिहार प्रान्त के गठन की औपचारिक घोषणा की गई एवं उड़ीसा' को लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन राज्य का दर्जा मिला। पुनः दिनांक 29 दिसम्बर, 1920 ई. को इसे गवर्नर के अधीन पूर्ण राज्य का दर्जा मिला।

बिहार एवं उड़ीसा को पृथक राज्य का दर्जा दिलाकर वे चुपचाप नहीं बैठे। उन्होंने बिहार के विकास पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने कलकत्ता स्थित इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल में पटना में विश्वविद्यालय की स्थापना सम्बन्धी मामला उठाया। काउंसिल में लेफ्टिनेंट गर्वनर के दिनांक 12 फरवरी, 1913 ई. के प्रस्ताव के आलोक में पटना में विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु रूपरेखा तैयार करने के लिए आर. नाथन की अध्यक्षता में एक समिति बनी, जिसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त 9 यूरोपीय एवं सच्चिदानन्द सिन्हा सहित 8 भारतीय सदस्य थे। समिति की अनुशंसा के आलोक में देश के सातवें विश्वविद्यालय के रूप में पटना विश्वविद्यालय की स्थापना दिनांक 01 अक्टूबर, 1917 ई. को हुई। बाद में वे सन् 1936 दिसम्बर 1944 तक पटना विश्वविद्यालय के अवैतनिक उप कुलपति भी रहे। उनके कार्यकाल में कई नये महाविद्यालयों की स्थापना, वाणिज्य संकाय की स्थापना, नई छात्रवृत्तियों की शुरुआत, हिन्दी और उर्दू साहित्य का विकास तथा तकनीकी शिक्षा के भी प्रयास हुए। बिहार के कांग्रेस मंत्रीमंडल (1937-39) द्वारा के.टी. शाह की अध्यक्षता में गठित बिहार शिक्षा पुनर्गठन समिति के वे सदस्य भी रहे। बहुत कम ही लोगों को यह जानकारी है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान अंग्रेजों ने सभी उप कुलपतियों को लेफ्टिनेंट कर्नल का मानद दर्जा दिया था। इस प्रकार, सच्चिदानन्द सिन्हा बिहार के पहले लेफ्टिनेंट कर्नल बने। स्मरण रहे कि सन् 1857 ई. के स्वतन्त्रता संग्राम में बिहारियों की भूमिका को देखते हुए अंग्रेजों ने सेना में उनकी भर्ती पर रोक लगा दी थी।

दिनांक 20 जनवरी, 1915 ई. बुधवार को सायं 6 बजे गवर्नमेंट हाउस, बाँकीपुर (पटना) में बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की आयोजित पहली बैठक के प्रस्ताव संख्या 15 में सच्चिदानन्द सिन्हा ने प्रान्तीय संग्रहालय और पुस्तकालय की

स्थापना की माँग की, जिसे स्वीकार कर लिया गया। दिनांक 26 जुलाई, 1915 ई. को प्रान्तीय सरकार के प्रस्ताव सं. 1419 के आलोक में पटना में प्रान्तीय संग्रहालय की स्थापना हेतु एक समिति का गठन हुआ और अप्रैल 1917 में तत्कालीन ले. गवर्नर सर एडवर्ड गेट के हाथों पटना उच्च न्यायालय के उत्तरी खण्ड के कुछ कमरों में संग्रहालय की स्थापना हुई। संग्रहालय में जगह की बढ़ती आवश्यकता को देखते हुए इसे दिनांक 7 मार्च 1929 ई. को बुद्ध मार्ग स्थित वर्तमान भवन में स्थानान्तरित किया गया। इस भवन के निर्माण हेतु भी सच्चिदानन्द सिन्हा ने तत्कालीन सरकार (1921-26) के सदस्य, वित्त के रूप में शीघ्र ही स्वीकृति प्रदान कर दी।

दिनांक 9 दिसम्बर, 1920 ई. को सच्चिदानन्द सिन्हा ने पुस्तकालय की स्थापना हेतु रु. 50000/- देने का प्रस्ताव तत्कालीन राज्यपाल लॉर्ड सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा को पत्र लिखकर भेजा। राज्यपाल ने इस संस्था का संरक्षक बनने हेतु स्वीकृति प्रदान कर दी और भवन का शिलान्यास दिनांक 28 मार्च, 1922 ई. को कार्यकारी राज्यपाल सर हविल्लंडले मेसुरिएर के हाथों हुआ। इस भवन का निर्माण डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा के द्वारा अपने निवास से सटकर करवाया गया और लगभग 10000 दुर्लभ पुस्तकों की भेंट भी की गयी। 'द राधिका सिन्हा इंस्टीट्यूट एण्ड सिन्हा लाइब्रेरी' के नाम से दिनांक 9 फरवरी, 1924 ई. को बिहार और उड़ीसा के तत्कालीन राज्यपाल सर हेनेरी व्हीलर के हाथों जनता के लिए खोल दिया गया। लाइब्रेरी के भविष्य को सुनिश्चित करने हेतु सन् 1949 ई. में उन्होंने बिहार के तत्कालीन शिक्षा सचिव श्री जगदीश चन्द्र माथुर से भी बात की, जिसका वर्णन स्वयं माथुर साहब ने इन शब्दों में किया है, ''वस्तुतः उनका विनीत स्वर उनके व्यक्तित्व के उस साधारणतया अलक्षित और आर्द्र पहलू की आवाज़ थी, जो पुस्तकों तथा सिन्हा लाइब्रेरी के प्रति उनकी भावुकता के उमड़ने पर ही मुखरित होता था।'' उनके द्वारा स्थापित पुस्तकालय अपनी ज्ञान की लौ से लोगों को प्रकाशित कर रहा है और जो उनकी स्मृति चिह्न के रूप में सदैव अमर रहेगा।

एक सशक्त पत्रकार

डॉ. सिन्हा एक प्रखर अधिवक्ता के साथ ही एक सशक्त पत्रकार भी थे। वे सन् 1900 ई. में कायस्थ पाठशाला, इलाहाबाद के सचिव चुने गये। इसके साथ ही उन्होंने वहाँ से प्रकाशित मासिम अंग्रेजी पत्रिका 'कायस्थ समाचार' का जुलाई, 1900 से सम्पादन भी किया। देश-विदेश में इसकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी कि यह एकमात्र मासिक पत्रिका थी, जिसके सम्पादक को सन् 1903 में दिल्ली दरबार में आमन्त्रित किया गया। उसी वर्ष सिन्हा साहब के प्रस्ताव पर इसका नाम 'हिन्दुस्तान रिव्यू एण्ड कायस्थ समाचार' रखा गया, जिसका सम्पादन सन् 1949 ई. तक वे आजीवन करते

रहे। उन्होंने सन् 1903 ई. में 'इण्डियन पीपुल' नामक पत्र की शुरुआत की, जो सन् 1909 ई. में 'लीडर' के नाम से इलाहाबाद से दैनिक के रूप में प्रकाशित होने लगा। बंगाल से बिहार के पृथक्करण के लिए महेश नारायण के साथ सन् 1894 ई. में शुरू किया गया उनका पत्र 'बिहार टाइम्स' बाद में 'बिहारी' साप्ताहिक बना और फिर सन् 1912 ई. में दैनिक बना और सन् 1916 ई. में प्रकाशित होना बन्द हो गया। डॉ. सिन्हा ने अपने कुछ सहयोगियों के साथ दिनांक 15 अगस्त 1918 ई. से सप्ताह में दो बार 'सर्चलाइट' का प्रकाशन शुरू किया, जो बाद में सप्ताह में तीन बार और फिर दैनिक के रूप में छपने लगा। दरभंगा महाराज के अनुरोध पर उन्होंने 'इण्डियन नेशन' नामक पत्र का प्रबन्ध निदेशक बनना भी स्वीकार किया।

विधायिका से सम्बन्ध

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा विधायिका से भी जुड़े और अपनी प्रशासनिक क्षमता का लोहा मनवाया। सन् 1910 ई. में वे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के सदस्य चुने गये। द गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1919 के अन्तर्गत सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली के प्रश्न उपाध्यक्ष निर्वाचित हुए। मई 1921 ई. में सर सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा, राज्यपाल बिहार एवं उड़ीसा के तीन सदस्यीय एक्जीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य बने। जुलाई 1921 से 20 नवम्बर 1922 ई. तक वे बिहार एक्जीक्यूटिव काउंसिल के अध्यक्ष भी रहे। देश के किसी भी प्रान्त में वित्त का दायित्व संभालने वाले वे प्रथम भारतीय मेम्बर फाइनेंस थे, जिसके दायित्व का उन्होंने सफलतापूर्वक निर्वाह किया। अपनी कटु आलोचना के बावजूद उन्होंने जेल प्रशासन में सुधार करने का प्रयास किया और सन् 1921 ई. से पाँच साल से अधिक के उनके कार्यकाल में किसी भी क़ैदी को कोड़े की सज़ा नहीं दी गयी। जून 1926 ई. में वे पुनः सार्वजनिक जीवन में लौट गये और दिनांक 18 जून 1926 ई. से वकालत करने लगे।

सन् 1930 ई. में अपने क्षेत्र शाहाबाद से निर्विरोध तथा 1937 एवं 1946 में पटना विश्वविद्यालय से विधान परिषद के लिए निर्वाचित हुए। सन् 1933 ई. में संयुक्त संसदीय समिति को सौंपे गए ज्ञापन में न्यायालयों में आई.सी.एस. के स्थान पर वकालत से जुड़े व्यक्तियों की नियुक्ति, महिलाओं के लिए मताधिकार, सेना के भारतीयकरण जैसे विषयों पर बल दिया। बिहार विधान परिषद में हुए भाषायी चर्चा में सिन्हा साहब ने 'हिन्दुस्तानी अकेडमी' को शिक्षा का माध्यम बनाए जाने का समर्थन किया। सन् 1936 ई. में इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडमी के तीसरे अधिवेशन की उन्होंने अध्यक्षता भी की। सन् 1939 ई. में वे बनारस स्टेट रिफॉर्म्स कमीशन के अध्यक्ष भी बने। सन् 1946 ई. में बिहार विधान परिषद् द्वारा वे संविधान सभा हेतु चुने गये। उनकी योग्यता और संविधान सभा के वरिष्ठतम सदस्य होने के नाते उन्हें संविधान सभा का अध्यक्ष

चुना गया। जहाँ उन्होंने संसद भवन के सेन्ट्रल हाल में इसके उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता की। वे दिनांक 9 दिसम्बर, 1946 ई. से दिनांक 11 दिसम्बर, 1946 ई. तक ही इसके अध्यक्ष रहे और शारीरिक अस्वस्थता के कारण यह जिम्मेदारी राजेन्द्र बाबू को सौंप दी। बीच-बीच में राजेन्द्र बाबू को पत्र लिखकर सभा के कार्यों में वे रुचि लेते रहे। दिनांक 14 फरवरी, 1950 ई. को संध्या 5 बजे पटना स्थित अपने आवास पर राजेन्द्र बाबू के द्वारा लाये गये भारतीय संविधान की मूल प्रति पर उन्होंने हस्ताक्षर किये और इस अवसर पर संक्षिप्त भाषण भी दिया। इस ऐतिहासिक क्षण के साक्षी उनके विशाल सुन्दर भवन में आज बिहार विद्यालय परीक्षा समिति का कार्यालय है। यह उनका अन्तिम सार्वजनिक महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध हुआ और दिनांक 6 मार्च, 1950 ई. को वे सदा के लिए इस दुनिया को छोड़कर चले गये।

उदार कांग्रेसी

दिसम्बर 1888 ई. में सच्चिदानन्द सिन्हा ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में भाग लिया। दिसम्बर 1912 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बाँकीपुर (पटना) अधिवेशन में स्वागत समिति के वे सचिव बने। सन् 1916-20 तक के बिहार प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष रहे। वे नरम दल के समर्थक थे और गाँधीजी की सक्रिय राजनीति से प्रायः दूर रहे। राजनीति में अधिक सक्रिय न रहने के कारण वे कभी राष्ट्रीय स्तर के नेता नहीं बन सके। फिर भी, देश उनके गुणों से सुपरिचित था और राष्ट्रीय मसलों पर अकसर उनसे सलाह ली जाती।

लेखन

महेश नारायण के साथ सन् 1906 ई. में लिखी गयी उनकी लघु पुस्तक 'पार्टिशन ऑफ बंगाल ऑर सेपेरेशन ऑफ बिहार' की बिहार के गठन में जनमत बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। उनकी पुस्तक 'कश्मीर : द प्लेग्राउण्ड ऑफ एशिया' (1942) कश्मीर पर पर्यटकों हेतु एक उत्कृष्ट दिग्दर्शक है, जिसके सन् 1947 ई. तक तीन संस्करण प्रकाशित हुए। 'सम एमिनेंट बिहार कंटेंपरेरीज (1944) बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के बिहार के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों पर अद्वितीय पुस्तक है। 'इकबाल : द पोयट एण्ड हिज मेसेज (1947) उर्दू और फारसी साहित्य के उनके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है। उनका लेखन एवं भाषण 'अ सेलेक्सन फ्रॉम स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ सच्चिदानन्द सिन्हा (1935) तीन खण्डों में संकलित है। उनकी अधिकांश पुस्तकें इलाहाबाद से प्रकाशित हैं। सिन्हा साहब की अपूर्ण आत्मकथा के बत्तीस अध्याय 'रिकलेकशन्स एण्ड रेमिनिससेंस ऑफ अ लॉन्ग लाइफ' द हिन्दुस्तान रिव्यू' के दिसम्बर 1949 के अंक तक प्रकाशित हैं।

विविध

सटीक तर्क, विधिक कुशाग्रता और प्रभावशाली जिरह के लिए विख्यात सिन्हा साहब एक अति सफल बैरिस्टर थे। संधि अधिकार और विशेषाधिकार से जुड़े मामलों के लिए देश के राजपरिवारों में उनकी काफी माँग थी। फिर भी सन् 1928 ई. में उन्होंने इस पेशे से अपने को अलग कर लिया, पर सार्वजनिक मामलों में जीवन के अन्तिम दिनों तक वे सक्रिय रहे। मार्च 1929 ई. में उन्होंने अखिल भारतीय कायस्थ सम्मेलन के 35वें अधिवेशन की अध्यक्षता की। अपने पिता की तरह ही ज्योतिष, हस्तरेखा इत्यादि में उनकी कोई रुचि नहीं थी। हालाँकि, बचपन में एक मौलवी के द्वारा दी गई तावीज़ को उन्होंने युवावस्था में भी काफ़ी दिनों तक धारण किया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत थे और उन्होंने इसका निर्वाह खान-पान से लेकर व्यावहारिक जीवन में भी किया। उनकी उदारता, आतिथ्य और सहिष्णुता सर्वज्ञात और तत्कालीन समाज में प्रसिद्ध थी। उनके आतिथ्य सत्कार में जाति, प्रजाति और धर्म का कोई स्थान नहीं था। बिहार में समय से पूर्व ही वे सामाजिक समरसता के ध्वजवाहक थे। वे समय और नियम के पाबन्द थे और पत्रोत्तर में भी इसका ध्यान रखते थे। सामाजिक शिष्टाचार में भी वे अत्योपचारिकता का पालन करते। अपने लम्बे विधुर और निस्सन्तान जीवन में भी उन्होंने कभी अकेले खाना नहीं खाया और उनकी खाने की मेज पर कोई-न-कोई देशी-विदेशी मेहमान अवश्य होता। उनके व्यक्तित्व में हास्य का पुट था और निजी जीवन में शास्त्रीय संगीत में गहरी रुचि। अपनी बोली भोजपुरी से भी उनका गहरा लगाव था। सन् 1947 ई. में पटना विश्वविद्यालय तथा सन् 1948 ई. में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उन्हें डॉक्टर ऑफ लेटर्स की मानद उपाधि मिली।

सिन्हा साहब की अर्द्धांगिनी राधिका सिन्हा भी उन्हीं की तरह उदार और शिक्षाप्रेमी थीं। आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व अपने मामले की जायदाद से मिली राशि रु.300000/- में से उन्होंने रु.50000/- यूनिवर्सिटी ऑफ पंजाब लाहौर को, रु. 50000/- कायस्थ पाठशाला इलाहाबाद को, रु. 50000/- इलाहाबाद विश्वविद्यालय को तथा रु.150000/- प्रस्तावित राधिका सिन्हा इंस्टीट्यूट एवं सिन्हा लाइब्रेरी, पटना को दान दिया। दिनांक 25 जुलाई, 1919 ई. को उन्होंने अपने आवास 7 एलगिन रोड, इलाहाबाद में सदा के लिए आँखें मूँद लीं।

अंततः

डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा के व्यक्तित्व और कृतित्व से न केवल बिहार, बल्कि पूरे देश को एक नयी दिशा मिली। न्यायपालिका, विधायिका, कार्यपालिका और पत्रकारिता से जुड़े डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा एक अच्छे लेखक और 'लोक-व्यवहार में निपुण कलाविद्'

थे। उनके बहुआयामी योगदान उन्हें देश के अग्रगण्य सपूतों की पंक्ति में स्थापित करते हैं। पटना में उनकी स्मृति में किसी प्रतिमा, पथ, चौराहा, उद्यान या शोध संस्थान की अनुपस्थिति से ऐसा प्रतीत होता है मानो बंगाल से बिहार को पृथक करवाने वाले को बिहार ने ही पृथक करने की सोच ली हो। दिनांक 26 दिसम्बर, 2016 ई. को भारत सरकार ने डॉ. सच्चिदानन्द सिन्हा सहित बिहार के आठ प्रमुख व्यक्तित्वों पर रु. 5/- प्रत्येक के स्मारक डाक टिकट जारी कर, उन्हें स्मरण किया है। उनके व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए जगदीश चन्द्र माथुर ने ठीक ही लिखा है—''मत्स्यगंधा की तरह चिर-नवीन आनन्द की सुगन्ध में स्वयं तो विभोर रहे ही, औरों को भी सुवासित करते रहे। ऐसों ही को लक्ष्य करके शायद चंडीदास ने कहा—सबाई उपरे मानुष तार ऊपरे केउ नाई।''

भारतीय परम्पराओं में वृक्ष-पूजा

शंकर लाल माहेश्वरी*

भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं में पेड़ों को विशिष्ट महत्ता प्रदान की गई है। पेड़ हमारी संस्कृति के संरक्षक भी माने जाते हैं। हमारे साधु-संतों और महात्माओं ने पेड़ों की छत्रछाया में ही साधना करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था। भारत भूमि पर वृक्षों, वनों, पौधों और पत्तों को देवतुल्य मानकर पूजा जाता रहा है। प्रत्येक मांगलिक अवसरों पर घरों के दरवाज़ों पर कनेर, आम तथा अशोक और केले के पत्तों से सजावट होती रही है। विशेष पर्वों और उत्सवों पर वृक्षों की पूजा-अर्चना की जाती है। ''परम्परा से आशय उस परिपाटी से है जो निश्चित सांस्कृतिक मूल्यों के निर्वाह तथा उन्हे पीढ़ी दर पीढ़ी आगे से आगे हस्तांतरित करने के उद्देश्य से समाज में निश्चित अवसर पर निश्चित विधि से अपनायी जाती है।''

हमारे प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों और वेदों में भी उल्लेख है कि मानव शुद्ध वायु में श्वांस ले, शुद्ध जलपान करे, शुद्ध अन्न-फल, भोजन करे, शुद्ध मिट्टी में खेले-कूदे व कृषि करें तब ही वेद प्रतिपादित उसकी आयु ''शतम् जीवेम् शरदः शतम्'' हो सकती हैं। हिन्दु धर्म में तो कई देव मन्दिरों में पेड़ को भी देवता का प्रतीक माना जाता है। पीपल, तुलसी, वट वृक्षों की पूजा-अर्चना पर्यावरण सुरक्षा की ही परिचायक है। हमारे धर्मशास्त्रों में महामनीषियों ने वापी, पाली और जलाशय बनाकर वहाँ पौधरोपण करना किसी यज्ञ के पुण्य से कम नहीं माना है। ऋषि आश्रमों में यज्ञ-हवन आदि में समिधा का प्रयोग होता है वह भी वृक्षों की देन है। जिसे पवित्रा मानकर उपयोग किया जाता है।

वृक्ष एक ओर जहाँ हमारे जीविकोपार्जन के साधन हैं वहीं दूसरी ओर हमारे जीवन के भी आधार हैं। पौधरोपण और जलाशय निर्माण को पुनीत कार्य माना जाता है। हमारे राजा-महाराजाओं ने प्रजा की सुख सुविधा के लिए न केवल सड़कों का ही

* शंकर लाल माहेश्वरी, पूर्व जिला शिक्षा अधिकारी, पोस्ट-आगूचा, जिला-भीलवाड़ा राजस्थान-पिन-311022; मो. 9413781610.

निर्माण कराया, बल्कि इनके किनारे छायादार वृक्ष व जलाशयों की व्यवस्था भी की थी। सम्राट अशोक ने समूचे राज्य में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में जगह-जगह फलदार व छायादार वृक्ष लगाकर वन्य जीवों और जीव जन्तुओं को आश्रय प्रदान किया है। ''वृक्ष हमारे जीवन के सहचर हैं, हमारा जीवन वृक्षों के अस्तित्व पर निर्भर है। वृक्षों की छोड़ी गई प्रश्वांस हमारी श्वांस है। वृक्षों के मूल, तने, पत्र, पुष्प, फल हमारे जीवन की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। वृक्षों की छाया हमें शीतलता प्रदान करती है। वृक्ष मेघों को आकर्षित कर हमारे लिए प्राकृत जल की व्यवस्था करते हैं।'' - वृक्ष पुराण

भारतीय समाज में पेड़ों की पूजा व नदियों को माँ का दर्ज़ा देना प्रकृति संरक्षण ही का परिचायक है। गंगा, यमुना, सरस्वती आदि पवित्र नदियों का उल्लेख शास्त्रों में पूज्य भाव से है। रामायण में काण्ड, महाभारत में पर्व और श्रीमद् भागवत् में स्कन्ध शब्दों का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ क्रमशः तना, पोर और प्रधान शाखा से है। कण्व की पुत्री शकुन्तला का पूरा बचपन वृक्षों की छाया तले ही व्यतीत हुआ। उसकी विदाई के समय वृक्षों की पत्तियों से आँसू टपक रहे थे। उसने वृक्षों से गले मिलकर विदा ली थी। रामायण-काल में राम का वनों में निवास करना और वृक्षों को अपना आश्रय बनाना उनके प्रकृति प्रेम का ही सूचक है। लंका में अशोक वाटिका में सीता का ठहराव वृक्षों की महत्ता प्रतिपादित करता है।

वृक्ष व वनस्पति रुद्र के रूप में मानी गई है, क्योंकि ये विषैली गैस पीकर अमृतमयी गैस निकालते हैं अतः वृक्षों को सींचना नीलकण्ठ महादेव को जल चढ़ाना ही माना गया है। विष्णु पुराण में उल्लेख किया गया है कि सौ पुत्रों की प्राप्ति से भी बढ़कर एक वृक्ष लगाना और उसका पालन-पोषण करना पुण्य माना गया है। चरक संहिता में प्राकृतिक औषधियों व जड़ी-बूंटियों का चिकित्सकीय दृष्टि से उपयोग बताया गया है। नींबू, आँवला, पपीता, सेब, पालक, चंदलाई आदि शरीर के लिए पौष्टिक एवं स्वास्थ्य वर्धक हैं। मत्स्य पुराण में दस पुत्रों, बावड़ियों एवं पुत्रों से बढ़कर एक वृक्ष माना गया है। वृक्षों के प्रति विशेष प्रेम से प्रेरित होकर राम ने दण्डकारण्य, इन्द्र ने नन्दनवन, कृष्ण ने वृंदावन, सौनकादि ऋषियों ने नेमिशारण्य वन तथा पाण्डवों ने खाण्डव वनों का निर्माण किया है। वर्षा का आह्वान, भूस्खलन का बचाव, प्राणवायु का दान और जीव-जन्तुओं का संरक्षण आदि कार्य भी वृक्षों द्वारा की सम्पादित होते हैं। हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं में प्रकृति प्रेम की अनेक गाथाएं भरी पड़ी हैं जिनके क्रियान्वयन से मानव जीवन को सुखी, समृद्ध बनाने हेतु प्रकृति प्रदत्त साधनों के संरक्षण की व्यवस्था बनाई गई है।

हमारी परम्पराओं में वृक्षों की पूजा का विशेष महत्त्व रहा है, जो पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन को सुखी व स्वस्थ बनाने की दिशा में सफल है। वृक्ष पूजा की परम्परा में कार्तिक मास में महिलाएँ पीपल व वट वृक्ष की पूजा कर पानी सींचती हैं

तो पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। कदम्ब के पेड़ के नीचे परिवार सहित भोजन किया जाए तो परिवार फलता-फूलता है। जिस घर में तुलसी की पूजा होती है उस घर में यमराज प्रवेश नहीं करता है। प्राचीन-काल में प्रत्येक शिवालय के पास विल्व-पत्र का वृक्ष लगाया जाता था, जिसकी पत्तियाँ शिवजी को अर्पित होती हैं। तुलसी एकादशी के दिन तुलसी के पौधों की अपनी पुत्री के समान विवाह की रस्म सम्पन्न की जाती है। शास्त्रवेत्ताओं का कथन है कि पथ पर पौधरोपण करने से दुर्गम फल की प्राप्ति होती है, जो फल अग्निहोत्र करने से भी उपलब्ध नहीं होता। वह मार्ग पर पेड़ लगाने से मिल जाता है।

ब्रह्माण्ड पुराण में लक्ष्मी को कदम्ब वनवासिनी कहा गया है। कदम्ब के पुष्पों से भगवान विष्णु की पूजा की जाती है। वृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष को वृक्ष का स्वरूप माना गया है। पद्म पुराण में भगवान विष्णु को पीपल वृक्ष, भगवान शंकर को वटवृक्ष और ब्रह्मा जी को पलाश वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। घर में वास्तु दोषों को नष्ट करने के लिए तुलसी का पौधा सक्षम है। माता लक्ष्मी को प्रसन्न करने के लिए घर में श्वेत आक, केला, आँवला, हरसिंगार, अशोक, कमल आदि का रोपण शुभ मुहुर्त में करने का विधान है। आन्ध्र पदेश में तो नीम के पेड़ को राज्य वृक्ष माना गया है। शास्त्रानुसार ईशान कोण में आँवला नैऋत्य में इमली, आग्नेय में अनार, वायव्य में बेल, उत्तर में केथ व पाकर, पूर्व में बरगद, दक्षिण में गुग्गल और गुलाब तथा पश्चिम में पीपल का वृक्ष लगाना शुभ माना गया है।

तुलसी को विष्णु प्रिया, केला को बृहस्पति और सन्तान दाता तथा पीपल को ब्रह्मा, विष्णु, महेश के निवास के रूप में पूजा जाता है। चन्दन भक्त और भगवान के माथे की शोभा है। कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की नवमी को आँवला नवमी कहते हैं। कहते हैं कि पीपल के पेड़ को नियम पूर्वक जल चढ़ाया जाए तो शनि का दुष्प्रभाव समाप्त हो जाता है। चैत्र मास की कृष्ण पक्ष की दशमी को ''दशामाता'' कहा जाता है। स्त्रियाँ इस रोज़ पीपल पूजा करती है। ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को स्त्रियाँ वटवासिनी का व्रत रखती हैं। वट वृक्ष को जल सींचती हैं। हरियाली अमावस्या और बसंत पंचमी आदि पर्वों पर व्रत उपवास के साथ वनस्पति पूजा होती है। छत्तीसगढ़ के रतनपुर क्षेत्र के ग्रामीण इलाकों में आम के पेड़ से आम तोड़ने से पहले उसके विवाह की विधि सम्पन्न की जाती है।

बढ़ती जनसंख्या और भौतिकवादी व्यवस्थाओं के फलस्वरूप वृक्षों की अन्धाधुंध कटाई हो रही है। प्रकृति से निर्दयता पूर्वक छेड़छाड़ की जा रही है। अतः आज प्रदूषण की भयावही समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। गाँधी जी ने कहा था– '' प्रकृति सभी जीवों का भरण-पोषण तो करती है किन्तु एक भी लालची की तृष्णा शांत करने में अक्षम है। पीपल बरगद को ब्राह्मण माना जाता था। उन्हें काटना ब्रह्म हत्या के समान माना जाता है। जिन पेड़ों पर पक्षियों के घोंसले हों तथा देवालय और

श्मशान भूमि पर लगे पेड़ों को काटना शास्त्रानुकूल नहीं है। साथ ही दूध वाले वृक्ष जैसे बड़, पीपल, बहेड़ा, अरड़, नीम आदि को काटने वाला पाप का भागीदार होता है। किसी कारण से वृक्ष काटना ही हो तो वृक्ष पर निवास करने वाले जीव-जन्तुओं से क्षमा-प्रार्थना करते हुए अन्यत्र पौधरोपण की व्यवस्था की जानी चाहिए। जोधपुर जिले की खेजड़ली ग्राम में संवत् 1780 में 363 वीर-वीरागंनाओं ने अपने सिर कटवाकर मरुस्थल में खेजड़ी के वृक्षों की रक्षा की थी। आज भी विश्नोई सम्प्रदाय के लोग खेजड़ी के पेड़ की सुरक्षा हेतु समर्पित हैं। पेड़ों को नष्ट होने से बचाने के लिए ही ओरण, डोली तथा गोचर व्यवस्था की परम्परा का विकास हुआ था। ओरण एक संरक्षित वन है, जो किसी देव स्थान से जुड़ा होता है। डोली किसी मठ या मन्दिर के पुजारी को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में दी जाती है, ताकि वन संरक्षण होता रहे।

बढ़ती जनसंख्या और भौतिकवादी व्यवस्थाओं के फलस्वरूप वृक्षों की अन्धाधुंध कटाई हो रही है। बढ़ते हुए सड़कों के जाल, उद्योगों की स्थापना, बाँधों के निर्माण तथा रेलवे लाइनों के विस्तार के कारण वृक्षों की अपार कटाई हो रही है। अतः नष्ट हो रहे वृक्षों के स्थान पर नये पौधरोपण पर ध्यान दिया जाए तथा क़ानूनों का कठोरता से पालन किया जाना आवश्यक है। अन्यथा वह दिन दूर नहीं है जब प्रकृति प्रकोप से पूरा प्राणी जगत प्रभावित हो जाएगा और हमारे अस्तित्व को ख़तरा उत्पन्न होगा। अतः वृक्षों के बचाव हेतु सभी को कृत संकल्प होना चाहिए।

पर्यावरण : एक मानवीय दृष्टिकोण

रिंकी*

विश्वव्यापी समाज द्वारा पर्यावरण और मानव अधिकारों के बीच स्थापित सम्बन्धों को स्वीकारा गया है। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में पर्यावरणीय मुद्दों को वैश्विक समाज द्वारा बढ़ते भूमण्डलीकरण के साथ प्रमुख मानव अधिकार निहितार्थ के रूप में देखा जा रहा है। सभी मानव अधिकारों की सन्तुष्टि पर्यावरण के मुद्दे से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। एक की अनदेखी दूसरे पर अत्यधिक नकारात्मक प्रभाव छोड़ती है। जहाँ मानव के क्रियाकलाप पर्यावरण को प्रभावित करते हैं, वहीं पर्यावरण के साथ छेड़छाड़ मानव जीवन को प्रभावित करता है।

मानव द्वारा अपना पूर्ण विकास किए जाने के लिए अपने मानव अधिकारों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। मानव अधिकार का सम्बन्ध उन परिस्थितियों से है जो मानव को उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने के अवसर उपलब्ध कराए जाने के साथ ही मानव को उसकी स्वाभाविक नियति तक पहुँचाने में सहायता करते हैं। मानव अधिकार मानव की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मानव के अन्तर्निहित गुणों, योग्यता, प्रतिभा को बढ़ाने में उनकी मदद करते हैं। जीवन, आजीविका, संस्कृति, और समाज मानव निर्वाह के प्राथमिक पहलू हैं और उनका रख-रखाव एक मौलिक मानव अधिकार है।[1] इस प्रकार मानव अधिकारों का केन्द्रीय बिन्दु मनुष्य रहा है।

इसके साथ ही यह कहा जा सकता है कि मानव पर्यावरण से अलग नहीं है बल्कि इन दोनों में आपस में गहरा सम्बन्ध क़ायम है। पर्यावरण जैविक व अजैविक घटकों का समूह है, जो परस्पर प्रक्रिया द्वारा मानव तथा जीव-जन्तुओं के जीवन को प्रभावित करता है। पृथ्वी के चारों ओर के सजीव व निर्जीव घटक मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थों में वर्णित पंचतत्त्व पृथ्वी, जल, आकाश, वायु व वनस्पति और जीव, जिसमें मनुष्य भी शामिल है पर्यावरण को दर्शाते हैं। इनके सम्मिश्रण से ही जीवन का निर्माण होता है। यह सभी तत्त्व एक दूसरे पर निर्भर हैं।

* डॉ. रिंकी, सहायक प्रोफेसर राजनीतिक विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

इन सभी का पूर्ण विकास तभी सम्भव हो सकता है, जब इनमें आपस में सामन्जस्य स्थापित हो।[2] स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार एक मौलिक मानव अधिकार है।[3]

मनुष्य न केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओं के लिए पर्यावरण पर निर्भर करता है, बल्कि मनुष्य की प्रगति, स्वास्थ्य, सम्पूर्ण विकास और जीवन भी स्वच्छ व सन्तुलित पर्यावरण पर निर्भर करता है। प्रकृति ने मानव को विभिन्न संसाधन उपलब्ध कराये हैं, ताकि मानव इन संसाधनों को बेहतर तरीक़े से उपयोग किये जाने के साथ इस संसाधनों से अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।[4] परन्तु इसके साथ यह भी देखा जा सकता है कि हालाँकि प्राकृतिक संसाधनों का सन्तुलित प्रयोग मानव जाति की प्रगति में मदद करता है, परन्तु वहीं प्राकृतिक संसाधनों का असन्तुलित प्रयोग मानव जाति के लिए ख़तरनाक साबित हो जाता है।

पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ने से मानव के जीवन के अधिकार का भी हनन होता है। इस भूमण्डल पर स्वस्थ जीवन जीना हर एक व्यक्ति का सर्वोच्च अधिकार है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 में जीवन के अधिकार के अन्तर्गत, परम्परा, संस्कृति और विरासत, शिक्षा के अधिकार तथा सन्तुलित पर्यावरण के अधिकार को शामिल किया गया है। पर्यावरण को क्षति पहुँचने से न केवल मानव के जीवन और स्वास्थ्य के अधिकार का हनन होता है, बल्कि मानव द्वारा अपने अन्य सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, साथ ही राजनीतिक और नागरिक अधिकारों का पूर्णतः प्रयोग एक बेहतर पर्यावरण में ही किया जा सकता है।

आज के समय में प्रदूषण समस्त मानव जाति के लिए एक गंभीर मुद्दा बना हुआ है। पर्यावरण के स्तर में गिरावट मानव जीवन के लिए बेहतर नहीं माना जाता। प्रदूषण प्राकृतिक या मानव निर्मित हो सकता है। प्राकृतिक प्रदूषण के दुष्परिमाणों का प्रबन्धन प्रकृति स्वयं कर लेती है। परन्तु मानव निर्मित प्रदूषण से होने वाले दुष्परिणामों को हल करने की क्षमता प्रकृति के पास भी नहीं होती।[5] आज मानव भौतिकवाद व औद्योगीकरण पर अधिक बल दे रहा है। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के साथ ही प्रकृति का शोषण भी किया जा रहा है। वृक्षों को काटा जा रहा है, वनों को नष्ट किया जा रहा और नदियों को बाँधा जा रहा है। कल कारख़ानों और उनसे निकलने वाले धुएँ व रसायनों से वायुमंडल को प्रदूषित किया जा रहा है। उपजाऊ भूमि को मरुस्थल में बदला जा रहा है। यह कहा जा सकता है कि मानव द्वारा किए जा रहे यह सभी कार्य उसके स्वयं के लिए ही गम्भीर ख़तरा उत्पन्न कर रहे हैं।

प्रकृति के असंतुलित और अविवेकपूर्ण दोहन से पर्यावरण को अधिक नुकसान पहुँचा है, जिसके दुष्परिणाम हमारे सामने ग्लोबल वार्मिंग, जलवायु परिवर्तन, वायु, जल व भूमि प्रदूषण आदि के रूप में देखे जा सकते हैं। पर्यावरण के लिए उत्पन्न हुई इन समस्याओं के परिणाम मानव जाति को झेलने पड़ रहे हैं। पर्यावरण क्षति के कारण

मानव अधिकारों का हनन हो रहा है जिसे रोके जाने की अति आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी यह माना जाता रहा है कि पर्यावरण में गिरावट मानव के लिए उचित नहीं है। इस समस्या से उबरने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रयास किये जाते रहे हैं।

मानव अधिकारों की आधुनिक धारणा की केन्द्रीय नींव 1948 में मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा इसके दस्तावेज़ और सन्धियों द्वारा की गई।[6] मानव अधिकारों व पर्यावरण के बीच स्थापित सम्बन्ध को सर्वप्रथम 1960 के दशक के अन्त में संयुक्त राष्ट्र महासभा में पहचाना गया। 1972 में पर्यावरण व जीवन के अधिकार के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध को स्टॉकहोम में आयोजित मानव पर्यावरण सम्मेलन द्वारा स्वीकारा गया। यह कहा गया कि मनुष्य अपने पर्यावरण का प्राणी व निर्माता दोनों है। प्राकृतिक और मानव निर्मित यह दोनों पहलू, मानव के कल्याण और बुनियादी मानव अधिकारों का आनन्द लेने के लिए आवश्यक है जो मानव को बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास का अवसर उपलब्ध कराते हैं। उसके साथ ही स्टॉकहोम घोषणा का सिद्धान्त एक मानव अधिकारों और पर्यावरण संरक्षण को जोड़ने के लिए आधार उपलब्ध कराता है। यह घोषणा करता है कि ''मनुष्यों के पास, स्वतन्त्रता, समानता और जीवन की पर्याप्त स्थितियों का मौलिक अधिकार है, जो एक गुणवत्ता के माहौल में गरिमा व कल्याण के जीवन की अनुमति देता है।''[7]

1982 में प्रकृति के लिए विश्व चार्टर द्वारा यह स्वीकार किया गया कि ''मानव जाति प्रकृति का एक हिस्सा है और जीवन प्राकृतिक व्यवस्थाओं के निर्बाध कार्य पर निर्भर करता है जो ऊर्जा और पोषक तत्त्वों की आपूर्ति सुनिश्चित करता है।''[8] 1992 में पर्यावरण और विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन जिसे पृथ्वी शिखर सम्मेलन भी कहा जाता है में कहा गया कि ''मनुष्य सतत् विकास के सरोकारों के केन्द्र में है। वे प्रकृति के साथ सामंजस्य के साथ एक स्वस्थ और उत्पादक जीवन के हक़दार हैं।''[9] इसके अन्तर्गत पर्यावरणीय निर्णय लेने में सार्वजनिक भागीदारी तक मानव की पहुँच के अधिकार पर भी बल देने के साथ ही पर्यावरण प्रदूषण को मानवता के लिए ख़तरे के रूप में स्वीकार किया गया। इसके अन्तर्गत तीन मुख्य अभिलेखों को स्वीकारा गया। जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सतत् विकास का क्रियान्वयन कार्यक्रम एजेंडा 21 को तैयार किया जाना, पर्यावरण एवं विकास पर रियो घोषणा पत्र ज़ारी किया जाना, जिसमें राष्ट्रों के अधिकार और कर्तव्यों का विवेचन करने वाले कई सिद्धान्त शामिल थे और वनों के सतत् प्रबन्धन के सिद्धान्त प्रकाशित किए जाना शामिल था।

विद्वानों ने पर्यावरण अधिकारों की तीन भिन्न अवधारणाओं पर बल दिया है। पर्यावरण अधिकार अलग-अलग मानव अधिकारों के रूप में, पर्यावरणीय अधिकार पहले स्थापित मानव अधिकारों के भीतर शामिल है और पर्यावरण अधिकार पर्यावरण के अधिकारों के रूप में।[10] 2002 में सतत् विकास पर विश्व शिखर सम्मेलन में इस

स्थिति को स्वीकारा गया कि पर्यावरण और मानव अधिकारों के बीच एक सम्भावित सम्बन्ध मौजूद हैं। संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार आयोग ने भी मानव अधिकार और पर्यावरण से जुड़े हुए कई संकल्पों को स्वीकारा है, जिनमें 2005/60 संकल्प शामिल हैं। जो इस बात पर बल देता है कि मानव अधिकार व पर्यावरण सतत् विकास का भाग हैं। यह संकल्प पर्यावरण संरक्षण और सतत् विकास को बढ़ावा देने के साथ मानव अधिकारों को संरक्षित किए जाने की बात करता है।[11] वर्ष 2012 में रियो डि जेनेरो में सतत् विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन और वर्ष 2015 में न्यूयॉर्क में संयुक्त राष्ट्र सतत् विकास बैठक ने मानव व पर्यावरण के बीच स्थापित सम्बन्धों को स्वीकारा।

मानव की गतिविधियों के पर्यावरण व पर्यावरण के मानव पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण के संरक्षण के लिए विभिन्न समझौते, सन्धियाँ व प्रसंविदाएँ की गई हैं। मानव अधिकारों को प्राप्त करने के लिए पर्यावरण संरक्षण को एक आवश्यक यंत्र के रूप में देखा जाता है, वहीं पर्यावरण संरक्षण के लिए अधिकार आधारित परिप्रेक्ष्य पर बल दिया जाता है, जो यह मानता है कि मानव अधिकार पर्यावरण संरक्षण के लिए दिशा प्रस्तुत करता है। मनुष्य का यह दायित्व है कि वह प्राकृतिक संसाधनों का उचित ढंग से प्रयोग करे और स्वस्थ वातावरण को बनाये रखे। अगर पर्यावरण को क्षति पहुँचती है, तो इसमें मानव द्वारा अपने ही मानवीय अधिकारों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को ऐसे पर्यावरण का अधिकार है जो उनके सम्पूर्ण विकास के लिए पर्याप्त हो।

सन्दर्भ **(References)**

[1] लॉ टीचर, राइट टू एन्वायरनमेंट फॉर ह्यूमन राइट्स. नवम्बर, 2013.

[2] रामसिंह सैनी. *समकालीन परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों के विभिन्न आयाम*, दिल्ली : गगनदीप पब्लिकेशन्स. 2007.

[3] बी.आर. जॉनस्टन, ''ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरनमेंट''. *ह्यूमन इकोलॉजी* 23, अंक 2 (1995): 112-123.

[4] रामसिंह सैनी. *समकालीन परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों के विभिन्न आयाम.* दिल्ली : गगनदीप पब्लिकेशन्स, 2007.

[5] वही

[6] ईक्यूट्स, ब्रीफ इन्ट्रोडक्शन टु ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरनमेंट, Accessed May 17,2018

[7] वही

[8] वही

[9] वही

[10] वही

[11] एलन बॉयल, ''ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरनमेंटः व्हेयर नेक्स्ट''। *द यूरोपियन जर्नल ऑफ इन्टरनेशनल लॉ 23*, अंक 3 (2012) : 613-624।

ग्रन्थ सूची (Bibliography)

ईक्यूट्स. ब्रीफ़ इन्ट्रोंडक्सन टू ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरमेंट- A ccessed May 17,2018

http:/www.aequitas-humanrights.org/human-rights-education/the-environment/brief-introduction-to-human-rights-and-the-envirnment/.

जॉनस्टन, बी.आर. ''ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरनमेंट,'' ह्यूमन इकोलॉजी 23, अंक 2 (1995): 112-123.

बॉयल, एलन, ''ह्यूमन राइट्स एण्ड द एन्वायरनमेंटः व्हेयर नेक्स्ट.'' द यूरोपीयन जर्नल ऑफ इन्टरनेशनल लॉ 23, अंक 3 (2012): 613-624.

लॉ टीचर. राइट टू एन्वायरनमेंट फॉर ह्यूमन राइट्स. नवम्बर, 2013.

सैनी, रामसिंह, समकालीन परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकारों के विभिन्न आयम. दिल्ली : गगनदीप पब्लिकेशन्स, 2007.

कर्तव्य

चम्पा नुनिया*

एक बीज को जब मिट्टी में डाला जाता है तो उस बीज के अंकुर से विशाल वृक्ष बनने की इस यात्रा में पानी, खाद, हवा, ठण्डी छाँव के साथ-साथ सूर्य की तेज किरणों की भी आवश्यकता होती है। ठीक उसी प्रकार किसी भी बच्चे के परवरिश में माँ के दुलार के साथ-साथ पिता के डाँट की भी आवश्यकता है। 'माँ' इस एक शब्द में इस शक्तिरूपा, जग कल्याणकारी, स्त्री में ही पूरी सृष्टि को बनाने और बिखरने की शक्ति निहित है। किसी भी स्त्री के ममत्व का श्रेष्ठ उदाहरण या किसी से तुलना करना असम्भव है। 'माँ' ही हर बच्चे की पहला शब्द, पहली गुरु और पहला स्कूल होती है। तो पिता एक माली है जो अपने सन्तान को अपने मेहनत और परिश्रम से सींचता है, कड़ी धूप और घोर तूफानों से उसकी रक्षा करता है। माँ ठण्डी छाँव है तो पिता सूर्य की किरण। जब धरती हरियाली फ़सल अपने सीने में लहलहाती है तो उसे हल का तीव्र प्रहार भी सहना पड़ता है। जब कोई सोने का हार किसी के गले में सजकर स्वयं की प्रशंसा में इतराता है, तो उसे आदर के लिए अनगिनत हथोड़े की मार सहनी पड़ती है। जब कोई पत्थर मन्दिर में भगवान की मूरत का शोभा बनता है, तो उसे टूटना-कटना-छिलना पड़ता है। फूलों का राजा गुलाब को माना जाता है, सब के मन को मोहने वाला, सुन्दरियों के जूड़े में सजने वाला, हज़ारों के बीच अपना उच्च स्थान प्राप्त करने के लिए उसे काँटों के बीच खिलना और विकसित होना पड़ता है। इस पूरी प्रक्रिया में न कोई अनाज उपजाने वाले किसान को ग़लत समझता है, न मूरत बनाने वाले मज़दूर को और न ही हार बनाने वाले सुनार को, क्योंकि वह जो भी करते हैं उसमें दूसरों का कल्याण का भाव छुपा रहता है। ठीक उसी प्रकार माता-पिता भी अपनी सन्तानों का पालन-पोषण करते हैं जिससे उनका आने वाला भविष्य सुन्दर

* Dr. Champa Nunia, Asst. professor (pailapool college, Pailapool-silchar) c/o. It. Ramjaten Nunia post-Silchar Medical Collage vill-Ghungoor Dist-cachar, assam e-mail-champanunia4@gmail.com mob.9954960199

और सफल हो सके। अपने सन्तानों के उत्तम भविष्य के लिए हर माता-पिता को अनगिनत कष्ट उठाने पड़ते हैं और अनगिनत बातें भी सुननी पड़ती हैं। परन्तु माता-पिता कभी किसी से शिकायत नहीं करते। अपने कर्तव्य का, अपने दुःख-तकलीफ़, बलिदानों का ढिंढारा नहीं पीटते। लेकिन माता-पिता की कहीं बातें, मीठी डाँट भी आज बच्चों को मान्य नहीं। आज उनके द्वारा दी गई नसीहतें पुराने ज़माने की बात मानी जाने लगी है, अब तो माता-पिता के द्वारा की गयी 'केयर' बच्चों के लिए 'डिस्टर्वेंस' बनती जा रही है।

हमेशा से 'माँ' की छवि ममतामयी, करुमामयी, संवेदनशील, भावुक, कोमल, प्यारी और आदरणीय रही है और पिता के परिश्रमी, कठोर, सख़्त होने वाला चित्र ही उभरकर आता है। परन्तु ऐसा नहीं है कि पिता में वह कोमलता नहीं। अगर माँ हमें जन्म देने वाली गुलाब का पौधा है, तो पिता हमारी रक्षा करने वाला वह कांटा है जो दुनिया की बुरी नजरों से, दुष्टों के गन्दे हाथों से, पापियों के बुरी दृष्टि से हमारी रक्षा करता है। पुरुषों के सीने में स्त्री जितनी कोमलता भले ही न हो लेकिन एक पिता जैसा हृदय भी दुनिया के किसी दूसरे व्यक्ति के पास नहीं होता। माता-पिता के समान कोई भी किसी बच्चे को निःस्वार्थ-निश्छल प्रेम नहीं कर सकता। अगर माँ ख़ुद गिले में सोकर अपने बच्चो को सुखे में सुलाती है तो एक पिता कड़ी धूप में और झंझावात-वर्षा में मज़दूरी करके अपने बच्चे का पेट भरता है। अगर माँ ख़ुद भूखी रहकर अपने बच्चे का पेट भरती है तो पिता नंगे पैर ठेला चलाकर अपने बच्चे के लिए चप्पल ख़रीद कर लाता है। अगर माँ पूरा दिन घर का कामकाज कर घर वालों की देखभाल करने के साथ अपने बच्चे का परवरिश करती है तो पिता दिन भर बॉस की डाँट सुनकर भी विनम्र होकर बिना किसी ग़लती की माफ़ी मांगते हुए अपना काम करता है। जब तक बच्चा घर नहीं आ जाता माँ को नींद नहीं आती पर पिता तब तक नहीं सो पाता जब तक अपने बच्चे की स्कूल का फीस न भर दे। अगर माँ बच्चे को उँगली पकड़कर चलना सिखाती है तो चोट लगने के बाद भी साइकिल चलाने की शक्ति है पिता माँ संस्कार है तो उस संस्कार पर दृढ़ होकर चलने की प्रेरणा है पिता, किसी ज़रूरतमंद की मदद करने की चाह है माँ तो अन्याय के ख़िलाफ़ बेख़ौफ़ खड़े होने की ताकत है पिता। माता-पिता के पूरे उम्र का परिणाम होने वाले बच्चे जब अपने उसी माता-पिता को (जा उनके अस्तित्व के धरोहर है) धुतकारते हैं तो कष्ट होता है, इस समाज के बढ़ते प्रगति को देख। इससे अच्छा तो यही होता हम पिछड़े हुए ही रहते। कम से कम उसमें अपने माता-पिता के प्रति सम्मान तो होता। अपने बड़ों के प्रति आदर तो होता। उस अभिशाप से तो बचा जाता जो हूँकते हुए हृदय से निकल रही है। किसी के बिलखते हुए माँ-बाप को अपनी ही सन्तान के लिए जब यह कहना पड़े कि 'अच्छा होता हम बिना औलाद ही रहते' तो इससे बड़ा के किसी सन्तान के लिए कोई अभिशाप नहीं। हमने कौन-सी प्रगति कर ली है, हिन्दी के बदले

अंग्रेजी बोलना सीख गये हैं! झोंपड़ी के जगह दस मंजिला मकान में रहने लगे हैं! साइकिल को छोड़ महँगी गाड़ियों में घूमने लगे हैं। खादी छोड़ ब्राण्डेड कपड़े पहनने लगे हैं। नूक्कर के बाज़ार को छोड़ ऑन लाइन शोपिंग करने लगे हैं! टेलीफोन को छोड़ अब घर के सभी सदस्यों के हाथों में एन्ड्रोएड मोबाइल आ गया है! गरमी में छत पर चटाई बिछाकर सोना छोड़ ए.सी. की शीतल छाँव में सोने लगे हैं! शरीर की कुरूपता को क्षणभंगुर मेकअप से ढकने का हुनर सीख गये हैं। और जिससे हमारे जीवन को दिशा मिली उसकी दुर्दशा कर रहे हैं। वाह रे हमारी प्रगति! एक बच्ची जब स्कूल की ओर से गये भ्रमण में वृद्धाश्रम में पहुँची जहाँ अपनी दादी से उसकी मुलाक़ात होती है। उस लाचार, कमज़ोर, बीमार, बदनसीब माँ का हृदय चूर-चूर हो जाता है जब उसकी पोती उसे ये बताती है कि—'पापा कह रहे थे आप अब इस दुनिया में नहीं रहीं।' तो आप स्वयं विचार कीजिए हमने कौन-सी प्रगति की है या कर रहे हैं? हम तो आगे जा रहे हैं, लेकिन हमारी सोच, विचार, नैतिकता, सहृदयता, कर्तव्य, अपनापन, संवेदना, इंसानियत सब कुछ पीछे छूटता जा रहा है। माली जब किसी पौधे को रोपता है तो उसे उम्मीद लगी रहती है कि एक दिन उसे और औरों को भी तपती धूप से ठण्डी छाँव मिलेगी, फल मिलेंगे, लेकिन हम पर ख़ुद की जीने की लालसा, सिर्फ़ अपने लिए और अपने बच्चे के लिए बेहतर सुख-सुविधा जुटाने का स्वार्थ, सिर्फ़ अपने लिए कुछ कर गुज़रने का जुनून इस तरह हावी है कि हम अपना कर्तव्य ही भूल गये हैं। कई बार ये देखा जाता है कि बूढ़े माता-पिता के लिए पैसा भेज दिया जाता है, क्योंकि प्रतियोगिता की इस दौड़ में समय का इतना अभाव हो गया है कि कामयाबी के शोर में बच्चे अपने माता-पिता के दिल से निकले उस पीड़ा के स्वर को सुन ही नहीं पाते, जो अपने बच्चे को एक बार देखने के लिए वर्षों इन्तज़ार करते हुए उनके हृदय से निकलती है। पैसे से पेट तो भरा जा सकता है, लेकिन मन नहीं, पेसे से बीमार पिता के आँखों का इलाज तो किया जा सकता है, परन्तु उन आँखों में अपने बेटे को एक बार देखने का सुख दुनिया के किसी भी दौलत से नहीं ख़रीदी जा सकती। उनका मन बहलाने के लिए घर पर टी.वी. ख़रीद दिया जाता है, लेकिन एक बार अपने बेटे के मुँह से 'माँ आप ठीक हो ना' 'पापा आपके घुटने का दर्द कैसा है?' सुनने के लिए उन तरसते कानों को किसी भी मनोरंजन के माध्यम से सुकून नहीं मिल सकता।

जिस तरह बारिश कमने के बाद छाता बोझ लगने लगता है वैसे ही बूढ़े माता-पिता को बोझ समझ या तो उन्हें गाँव के झोंपड़ी में रख दिया जाता है, तो कभी घर का सबसे आख़िरी कमरा दे दिया जाता है, जहाँ घर के बेकार चीज़ों को रखा जाता है तो कभी वृद्धाश्रम में, और जो अधिक निकृष्ट बच्चे हैं, वे तो वृद्धाश्रम के खर्च से बचने के लिए उन्हें दर-दर की ठोकरे खाने के लिए फुटपाथ में ही छोड़ देते हैं। यह कोई सदियों से चली आ रही परम्परा नहीं है और न ही कोई रूढ़ि यह तो आधुनिकता

की देन है। हम भारतीय तो अपने वेद, पुराण, महाकाव्यों को अपना आदर्श मानते हैं। तो ज़रा पीछे नज़र घुमा के देखिए हमारे पुराणों में क्या कहीं भी वृद्धाश्रमों का वृत्तान्त मिलता है? अपनी माँ को कारागार से मुक्ति दिलाने के लिए श्रीकृष्ण जन्म से ही संघर्ष करते रहे, अपने पिता के वचन का मान रखने के लिए भगवान राम राजमहल का सुख छोड़ चौदह वर्षों तक वन-वन भटकते रहे, अपनी सास के वचन का मान रखने के लिए द्रौपदी अपने जीवन को तपस्या बना कांटों भरी राहों में आजीवन चलती रही, अपनी माँ के कुबुद्धि और नीचता को जानते हुए भी भरत ने अपने कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ा... आधुनिक बनाना है तो अपने विचारों को आधुनिक बनाओ अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ने में, इन्सानियत को भूलने में व मानवता को अभिशापित करने में कोई प्रगति नहीं।

कोई यह नहीं कह रहा कि अपने माता-पिता को श्रवणकुमार की तरह अपने कन्धे पर लेकर चारों धाम की यात्रा करो, लेकिन जिन माता-पिता ने अपने ख़ून-पसीने को बहाकर आपको इस क़ाबिल बनाया है। आज उन्हीं को उनके ज़ायदाद में हिस्सा दिया जाता है। कई बार उनके मरने से पहले ही भाइयों में ज़ायदाद के बँटवारे के समय इस बात को भी उठाया जाता है कि 'इनके मरने के बाद श्राद्ध कौन करेगा या श्राद्ध के लिए भी एक हिस्सा रख देना चाहिए।' भगवान से भी पहले जिन माता-पिता का स्थान है, उनको दो वक्त की रोटी भी अगर आप नहीं दे सकते तो धिक्कार है ऐसी सन्तानों की प्रगति पर, धिक्कार है आपकी ऊँची सोच पर, ऐसी समाज व्यवस्था पर, ऐसी शिक्षा और कामयाबी पर...। जिनके लिए आप ही सब कुछ हों उनके लिए पाँच मिनट समय निकाल उनके पास बैठो, उनसे बात करो, कुछ अपनी कहो कुछ उनकी सुनो। आपके दो मीठे बोल, आपका स्नेह भरा स्पर्श ही उनके लिए उनकी तपस्या का परिणाम होगा।

नववर्ष की शुरुआत करें पृथ्वी को बचाने के संकल्प के साथ

सीताराम गुप्ता*

मित्रो! नया साल एक बार फिर हमारे दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है। आओ इस नववर्ष का भी उत्साह से स्वागत करें और इसे धूमधाम से मनाएँ। लेकिन क्या ये संभव है? जबकि हमारे सामने अनेक संकट और चुनौतियाँ हैं, हम कैसे नये साल का स्वागत कर सकते हैं? इसे कैसे धूमधाम से मना सकते हैं? हमारा पर्यावरण दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक प्रदूषित व विषाक्त होता जा रहा है। हमारे महानगर ही नहीं छोटे शहर और क़स्बे भी रहने लायक नहीं रहे हैं। क्योंकि इनमें प्रदूषण इस क़दर बढ़ गया है कि साँस लेना तक मुहाल हो गया है। प्राकृतिक आपदाएँ भी मनुष्य को पीड़ित करती ही रहती हैं। कभी बाढ़ की विभीषिका, तो कभी सूखे का प्रकोप तथा कहीं भूकम्प से तबाही तो कहीं सुनामी से विनाश।

आपदाएँ और संकट चाहे वे प्रकृति द्वारा प्रदत्त हों अथवा मनुष्य द्वारा स्वयं निर्मित, उनका समाधान केवल प्रकृति द्वारा ही संभव है। प्रकृति ही हमारी वास्तविक सम्पदा है। इसी से वास्तविक समृद्धि का निर्माण सम्भव है। वस्तुतः प्रकृति और समृद्धि एक-दूसरे के पर्याय हैं और प्रकृति का संरक्षण करके ही हम सही अर्थों में समृद्ध और सुखी हो सकते हैं। अतः हम अपने इस ग्रह तथा इसके परिवेश को संरक्षित करने का संकल्प लेकर ही सही अर्थों में नववर्ष का स्वागत और अनुष्ठान कर सकते हैं। आइये नववर्ष का स्वागत इस नए संकल्प अथवा प्रतिज्ञा के साथ करें कि हम अपनी इस धरती माता और इसके वायुमण्डल को प्रदूषित नहीं होने देंगे।

प्रकृति को बचाने, इसका संरक्षण करने अथवा पर्यावरण को प्रदूषित होने से रोकने के लिए प्रतिज्ञा या संकल्प किसी पर अहसान नहीं है। प्रकृति को अक्षुण्ण

* सीताराम गुप्ता, ए.डी.106-सी, पीतम पुरा, दिल्ली - 110034 फोन नं. 09555622323
Email:srgupta54@yahoo.co.in

बनाए रखकर ही हम स्वयं के जीवन को सुरक्षित रख सकेंगे अन्यथा इस ग्रह से जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों की अन्य कई प्रजातियों की तरह मनुष्य प्रजाति भी सदा के लिए विलुप्त हो जाएगी। प्रक्रति का संरक्षण मनुष्य के स्वयं के लाभ के लिए ही है। प्रकृति को बचाने और अक्षुण्ण रखने की प्रक्रिया के द्वारा एक बिलकुल नए प्रकार की जीवनशैली का प्रारम्भ सम्भव है, जिससे हम न केवल प्रकृति का सान्निध्य पा सकते हैं, अपितु उस सान्निध्य के द्वारा प्रकृति के अनेकानेक उपहारों से भी मालामाल हो सकते हैं। एक ऐसी जीवनशैली जिसमें मनुष्य अधिकाधिक कर्मशील और सक्रिय जीवन व्यतीत कर तनाव, व्याधियों और समस्याओं से पूरी तरह मुक्त हो सकता है। इसलिए मित्रो विलम्ब करने की अपेक्षा शीघ्र इस पर कार्य करने की आवश्यकता है। मनुष्य जाति का भविष्य मनुष्य के अपने ही हाथों में है।

पिछले कुछ वर्षों में देश में मुंबई तथा महाराष्ट्र के कुछ अन्य भागों में तेज़ बारिश और बाढ़ तथा चेन्नई तथा दक्षिण भारत के कुछ अन्य हिस्सों में असमय तेज़ वर्षा वास्तव में मनुष्य द्वारा उठाए गए ग़लत क़दमों के विरुद्ध प्रकृति की चेतावनी ही है। चाहे वह असंतुलित औद्योगिक विकास हो या प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन हो या फिर प्रकृति से छेड़छाड़। ग्लोबल वॉर्मिंग की वजह से पूरी दुनिया पर संकट के बादल मँडरा रहे हैं। धरती कर तापमान बढ़ रहा है। ग्लेशियर पिघलकर समुद्र की सतह को बढ़ा रहे हैं। ओज़ोन परत में छेद हो जाने से धरती पर स्थित प्राणियों के अस्तित्व के लिए संकट उत्पन्न हो गया है, जिससे मनुष्य भी अछूता नहीं।

पूरे ग्रह का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है और इसका कारण है स्वयं मनुष्य। दुनिया के कई हिस्सों में उत्पात मचाने वाली सुनामी लहरें , बवंडर अथवा भूकम्प ऊपर से तो प्राकृतिक आपदाएँ ही लगती हैं, लेकिन इन उपद्रवों में कहीं न कहीं मानव मन और उसकी प्रतिक्रिया भी सम्मिलित है। वास्तव में मनुष्य की इच्छानुसार ही यह ग्रह तथा आसपास के अन्य ग्रह प्रतिक्रिया करते हैं। मनुष्य बेशक ग्रहों से प्रभावित होता हो, लेकिन उसका अपना ग्रह पृथ्वी तथा अन्य ग्रह भी मनुष्य की सोच से प्रभावित होते हैं।

इस संसार में कष्टों का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए डॉ. दीपक चोपड़ा कहते हैं, ''हमारी सामूहिक रुचियाँ और पसंद जो हमारी सामूहिक इच्छा का परिणाम हैं। इस जीवमंडल या धरती के सूचना और ऊर्जा क्षेत्र को प्रभावित करती हैं। यह समस्त भूमण्डल मनुष्य का ही विस्तार है। जब सामूहिक रूप से हम सब या अधिकांश लोग व्यग्र या अशांत होते हैं तो घरती या प्रकृति भी व्यग्र या अशांत हो उठती है और इस प्रकार प्राकृतिक आपदाओं के लिए हमारा बहुत बड़ा योगदान है, जिसके लिए हम ईश्वर को दोषी ठहराने लगते हैं।'' मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है। मनुष्य प्रकृति की छवि है, तो प्रकृति मनुष्य की छवि है। यदि सामूहिक रूप से मनुष्य

की अशांति समाप्त हो जाए, तो संभव है प्रकृति का उपद्रव और अशांति भी उसी तरह शान्त हो जाए।

यद्यपि प्रत्येक आपदा या संकट मनुष्य जाति के लिए लाभदायक भी हो सकता है, क्योंकि विषम परिस्थितियों में मनुष्य अपेक्षाकृत अधिक सीखता है, लेकिन, हमें चाहिए कि हम हर कार्य सावधानीपूर्वक करें और अत्यंत सावधानी, सम्मान और सकारात्मक मानसिक दृष्टिकोण के साथ प्रकृति का दोहन या उपयोग करें। संसार की प्रायः सभी जनजातियाँ प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम और श्रद्धा का भाव रखती हैं और यह भी देखा गया है कि प्राकृतिक आपदाओं के समय वे पूर्ण रूप से सुरक्षित रह पाती हैं। तब तथाकथित सभ्य मनुष्य क्यों नहीं? हम सब भी प्राकृतिक प्रकोपों से बच सकते हैं, यदि हम सब एक नये सकारात्मक मानसिक दृष्टिकोण का विकास करें और स्पष्ट रूप से वह है प्रकृति से प्रेम, श्रद्धा और उसकी देखभाल या चिंता अथवा संरक्षण। मित्रो! आइये नववर्ष का उत्सव प्रकृति के प्रति एक नये मानसिक दृष्टिकोण से प्रारम्भ करें। यह दृष्टिकोण स्वस्थ जीवन की शुरुआत के लिए मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्धों को मज़बूत करेगा।

इसका यह अर्थ नहीं है कि हमने पिछले वर्षों में उन्नति नहीं की है। पूरी दुनिया में विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। न केवल विज्ञान और टेक्नोलॉजी तथा आर्थिक क्षेत्रों में हमने पर्याप्त उन्नति की है, अपितु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कम उन्नति नहीं की है। हम निरंतर अधिकाधिक सचेत जाग्रत तथा ज्ञानवान हो रहे हैं। फिर भी आत्मज्ञान के क्षेत्र को और अधिक विकसित करने की आवश्यकता है, ताकि हम आंतरिक और बाह्य उन्नति में संतुलन बना सकें, आध्यात्मिकता और भौतिकता में संतुलन क़ायम रख सकें, जिससे मनुष्य और प्रकृति का विरोध समाप्त हो सके और हम अच्छी प्रकार जीवन जी सकें।

अच्छे स्वास्थ्य और सुखी जीवन के लिए संतुलन अनिवार्य है, जिसकी आज कमी है। जीवन में संतुलन की प्राप्ति के लिए शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ मन की सही सोच तथा आध्यात्मिक उन्नति भी अनिवार्य है और इन सबकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है उचित परिवेश या प्रदूषण रहित स्वच्छ प्रकृति। प्रदूषण रहित परिवेश स्वच्छ प्रकृति की सन्निधि में ही सम्भव है। अनुकूल प्राकृतिक परिवेश के अभाव में हम आंतरिक और बाह्य प्रगति में संतुलन स्थापित करने की मानसिक अवस्था कभी भी नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिए नववर्ष को नये अंदाज़ में मनाने के लिए संकल्प करें :

- प्रकृति हमारी वास्तविक सम्पत्ति है। मैं इसका सम्मान करता हूँ और इसकी देखभाल तथा सुरक्षा करता हूँ।
- प्रकृति और मनुष्य दोनों को प्रशांत बनाए रखने के लिए प्रकृति और मनुष्य के प्रति मैं पूरी तरह सकारात्मक मानसिक दृष्टिकोण रखता हूँ।

- मेरे जीवन में पूर्ण संतुलन है। मेरी आंतरिक और बाह्य प्रगति तथा शरीर, मन और चेतना तथा मेरी अपनी चेतना व ब्रह्माण्डीय चेतना के मध्य पूर्ण संतुलन है।

इस प्रकार हम एक नए अंदाज़ में नए साल का उत्सव मना सकते हैं, जो मात्र आने वाले वर्ष को ही नहीं अपितु आने वाली सदियों और सहस्राब्दियों को भी सुखमय बनाने में सक्षम होगा। और इसके लिए किसी विशेष दिन की भी आवश्यकता नहीं। इसे हम किसी भी महीने, किसी भी दिन अथवा किसी भी क्षण मना सकते हैं। पहले ही बहुत देर हो चुकी है, अतः आइये आज ही इसी क्षण को नववर्ष स्वीकार कर नये ढंग से मनाने की शुरुआत करें। यह शुरुआत जितनी जल्दी हो सकेगी, उतनी ही जल्दी हम वास्तविक सुख-समृद्धि तथा उन्नति की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

असहिष्णुता के विरुद्ध

मृत्युंजय उपाध्याय*

आज पूरा विश्व अशांति के कारण परेशान है। वहाँ चैन नहीं है। कुछ करने का जज़्बा नहीं है। सभी एक-दूसरे को क़ायदे से परास्त करने के बजाय ग़लत रास्ते अपना रहे हैं। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक कार्य का कारण होगा। फिर कारण पर काम होगा, तो सफलता निश्चित है। कार्य-कारण शृंखला के इस अटल नियम को तोड़ने के पीछे हाथ है उन लोगों का, जो कामचोर हैं। पलायनवादी हैं। फलाशी के प्रति जितने उत्तेजित हैं उसका हज़ारवाँ भू-भाग भी कर्म के प्रति ईमानदार नहीं हैं। कार्य-कारण शृंखला जहाँ छिन्न-भिन्न हुई, वहाँ अव्यवस्था होगी। संघर्ष होगा, मार-काट होगी। अशांति होगी।

सभी देशों का उद्देश्य है, शक्ति, संहार, विध्वंस के बल पर एक-दूसरे देशों पर अधिकार जमाना। फलतः विकास के लिए जो धन है, उसका अधिकांश भाग सुरक्षा तथा दूसरों के संहार में लगाया जाता है। मसलन, विकास हो जाता है अवरुद्ध के प्रति व्यक्ति की आय कम।

मूल प्रश्न है कि हम भयभीत क्यों हैं। क्यों रात-भर किसी के द्वारा अनर्थ करने के प्रति चौकस हैं? इसलिए कि न हमें अपने-आप पर भरोसा है, न अपने कृत्य के कारण दूसरों को भरोसा करने का अवसर दिया है। हम नितांत आत्मकेंद्रित हैं। घोर स्वार्थी हैं। 'आप मरे तो जग डूबा' के साकार विग्रह हैं। आज विकास, प्रगति, उन्नति का अर्थ है धन से मालामाल हो जाना। फिर जनधन की रक्षा में अस्त्र-शस्त्र जुटाना और आजीवन भयभीत रहना। दूसरों को भयभीत करना।

यहाँ एक फ़क़ीर की याद आ रही है। जाड़े की हड्डी कँपाने वाली रात है। वह कंबल ओढ़कर ढिबिया की मद्धिम रोशनी में कोई भजन लिख रहा है। उसे बार-बार गाता है। फिर लिखता है। इसी समय खुले दरवाज़े से एक आदमी प्रवेश करता है। फ़क़ीर के पूछने पर वह बताता है कि वह एक चोर है और चोरी की नीयत से यहाँ आया है। फ़क़ीर पर इसका कोई असर नहीं होता। वह कहता है :

* पताः वृंदावन, राजेंद्रपथ, धनबाद-826001, (झारखंड), मो. 9065192429

''बाहर इतना भयंकर जाड़ा है। तुम लौटोगे तो सह पाओगे इस ठंड को ये कंबल ओढ़कर तुम बाहर निकलना। तुम आए हो चोरी के मन से पर मेरे पास किसी भक्त का दिया दस रूपए का केवल एक नोट है। वह ले लो।

चोर विस्मित, विमुग्ध। चोर था। एक दिन पकड़ा गया। सजा हुई। जेल गया और वहाँ से छूटते ही फ़क़ीर के चरणों पर गिर पड़ा। उनका अनन्य भक्त हो गया। तात्पर्य यह कि फ़क़ीर को न धन है, न सत्ता। अतः वह सुखी है। उसे किसी की परवाह नहीं है। कभी एक कविता पढ़ी थी 'चिड़िया' (आरसी प्रसाद सिंह), जिसे आज कुछ दाने मिल गए। कल की उसे परवाह कहाँ है–

सीमाहीन गगन में उड़ती,
निर्भय विचरण करती है,
नहीं कमाई से औरों की,
अपना घर वह भरती है।

काश, हमारा जीवन ऐसा हो पाता। पर हम हैं धन, सत्ता के भूखे, जिसे जुटाने और महफ़ूज़ रखने में ही ज़िंदगी की शाम घिर आती है।

ज्योति जैन को चिंता है कि दरिया का पानी ख़ून के रंग से लाल क्यों हो गया है। सारा वातावरण बारूद की गंध से विषैला हो गया है। कोयल कहाँ गा रही है मीठे स्वर में? उसके स्वर में पीड़ा का गान है। कहा जाता है कि नहीं है धर्म कोई ईश्वर का। ईश्वर प्रदत्त चीज़ों का। फिर आतंक का भी कोई धर्म नहीं है। तब धर्मोन्माद भला क्यों फैलता है? क्यों इसीलिए कोई बन जाता है आतंकी? धर्म और मज़हब क़तई भिन्न नहीं हो सकते। फिर अवसरवादी आतंक, भय, दहशत फैलाने में चूकते कहाँ हैं।

''फिर क्यों धर्मोन्माद ही
सबसे बड़ा आतंकी है?
धर्म और मज़हब कैसे भिन्न हो सकते हैं
जब सभी बंदों के सिर
अपने-अपने आराध्य के सजदे में झुकते हैं।

(बँटवारा : ज्योति जैन, समावर्तन, सितम्बर 2017)

डॉ. एकटन लिखते हैं कि सत्ता, अधिकार मनुष्य को भ्रष्ट बनाते हैं और कहीं निरंकुश सत्ता मिल जाए, तो क्या कहना। फिर अन्याय की सीमा नहीं रह जाती है। सरकार में या उसके आस-पास बैठे लोग न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति की परवाह कहाँ करते हैं। जब कहीं ऐसा धर्म-संकट, द्वंद्व सामने आता है, वे मानवीय विवेक खो देते हैं। कारण, भय हो या स्वार्थ–वे मौन हो जाते हैं। नितांत निरपेक्ष। सन् 1987 में इंदिरा गाँधी की हत्या हुई कि सिख समुदाय का खुलेआम क़त्लेआम होने

लगा। स्वार्थी तत्त्व उनकी हत्या करते गए। उनका माल-असबाब लूटते गए। अभी हाल के नंदीग्राम (बंगाल) या फिर सिंगूर में दानवता का ताण्डव नर्तन हुआ। सरकारी गुण्डों द्वारा अपने ही मतदाता नागरिकों, स्त्री-पुरुषों का खुलेआम संहार किया गया। महिलाओं के साथ बलात्कार हुआ।

हमारे देश का दुर्भाग्य था कि उसे अकारण आपातकाल झेलना पड़ा। नाना मुसीबतों का सामना करना पड़ा। परन्तु साहित्यकारों की शर्मनाक गतिविधियों से लज्जा भी लजा गई। किसी के मुँह से विरोध का एक शब्द भी नहीं निकला। तभी दुष्यंत ने अपना पक्ष प्रकट किया और 'साए में धूप' (गज़ल-संग्रह) तैयार किया। अन्याय, विरोध, वाजिब कथन भारतीय कविता का सनातन चरित्र रहा है। कहीं, किंचित विरोध की झलक भी दिखाई पड़ती आज है, वह एक नाटकघर है—

गूँगे निकल पड़े हैं जुबाँ की तलाश में
सरकार के ख़िलाफ़ ये साज़िश तो देखिए।

सर्वत्र निराशा है, हताशा है। कोई किसी की बात सुनने को तैयार नहीं है। लगता है जंगल में कोई लगा गया है ज़हरीला पौधा। ''कोई बात नहीं सुनता है/पत्थर का हो गया घरौंदा/जाने किसने रोप दिया है/जंगल में ज़हरीला पौधा'' (सूर्य प्रकाश मिश्र)

मुझे स्मरण आता है भगवतशरण उपाध्याय का वर्णन 'वर्साय के महल' का, एकदम जीवंत, ऐसा कि रोंगटे खड़े हो जाएँ, उनका कहना है—

''अभावों में ग्रस्त फ्रांस की जनता रोटी के लिए तरसती रही और सम्राट के मंत्री ने कहा, तुम्हारे भाग्य में तो घास खाना भी नसीब नहीं। लोगों के प्रति संगदिली हृदयहीनता, असहिष्णुता का यह आलम वर्साय के यथार्थ को देखकर समझा जा सकता है कि मनुष्य की सत्ता के मद में असहिष्णुता कितनी क्रूर और दानवीय हो सकती है—

''अभिराम इमारत कितनी अभागी हो सकती है, शक्ति का पुंज कितना निर्लज्ज हो सकता है, कला कितनी क्रूर हो सकती है, ऐश्वर्य किस मात्रा में दरिद्रता छिपा सकता है, कंगाल का अभिशाप कितना भयावह हो सकता है, यह वर्साय के महलों की ईंट-ईंट से निकल रहा है।''

(इतिहास और संस्कृति विमर्श, भगवतशरण उपाध्याय), अरुण वर्मा।

जीवन परिवर्तनशील है। इसी परिवर्तन के साथ समाज, उसके मानदंड, आदर्श, मूल्य बदलते जाते हैं। समाज भी परिवर्तन के लिए विवश है। वह बदलेगा नहीं, उसके मूल्य, मान में परिवर्तन नहीं होगा, तो वह सड़ने लगेगा। उससे आने लगेगी दुर्गंध। वह नाश की स्थिति में। कारण, निरंतर उसमें ह्रास आ रहा है। प्रत्येक ह्रासोन्मुख समाज अपने अंत के लिए कब्र स्वयं खोदता है।

हमारा नारा है हम राष्ट्रवादी हैं। भारत का बच्चा-बच्चा इस राष्ट्र से प्रेम करता है और इसके हित में क़ुर्बानी के लिए तत्पर है। और दूसरे को नेस्तनाबूद करने के लिए (जो भारत को राष्ट्र नहीं मानते या राष्ट्र धर्म की अवज्ञा करते हैं भी पर गंभीरता से सोचा जाए, तो यह अतिराष्ट्रवादी चेतना कोई ऑब्सेस (फोड़ा) तो नहीं है, जिसकी आड़ में असहिष्णुता बढ़ रही है और युद्ध, महायुद्ध हो रहे हैं। भगवतशरण उपाध्याय की एक विचारोत्तेजक टिप्पणी पर ग़ौर फ़रमाया जाए–

''अतिराष्ट्रवाद ने अपने कट्टर रूप में युद्धों आर्थिक प्रतियोगिताओं और घृणाओं को ही जन्म दिया है। रेखांकित राष्ट्रवाद राष्ट्रदंभवाद बन जाता है। राष्ट्रवाद अपनी अहम्मन्यता और मानसिक जड़ता मात्र से प्रभावशील होता है और समग्र सत्ता का ह्रास पाशविक दमन, उत्पीड़न और सार्वजनिक झूठ उत्पन्न करता है। इतिहासकार को अपने को राष्ट्रीय दम्भवाद के विरुद्ध सचेत रखना पड़ेगा, अन्यथा गौरवशाली ताजमहल किसी तुच्छ 'हिन्दू सरकार का व्यक्तिगत महल' और शिखर शिव का त्रिशूल मात्र बनकर रह जाएगा।'' (उपरिवत्, पृ. 165)

तात्पर्य यह है कि स्वदेश हो या राष्ट्र या समग्र मानव-जाति या विश्वबंधुत्व की कल्पना-सबको तटस्थ और मानवीय मूल्यपरक दृष्टि से विवेचित, विश्लेषित किया जाएगा, तभी एक निर्णयात्मक दृष्टि, दर्शन का विकास होगा, जो हमें अतिवादिता और तज्जन्य परिणामों से बचा पाएगा और हम किसी युद्ध, नरसंहार, नाश के लिए तत्पर नहीं होंगे और न दौड़ेंगे असहिष्णुता के आज के दौर में।

व्यावहारिक जीवन में ज़िंदगी की ज़िल्लत भोगते-भोगते व्यक्ति इतना असहिष्णु हो जाता है कि सारे पारिवारिक संबंध (पति-पत्नी का वर्षों साथ रहना भी) मरुकान्तार में खो जाते हैं। स्त्री धरा होती है। अंतहीन यातना सहती है। सहती जाती है पर एक बिंदु पर वह एकदम असहिष्णु हो जाती है और उसका निर्णय भी उतना ही मर्मांतक और कठोर होता है, ''मेरे सामने दो रास्ते थे– एक वह, जिसे मैंने घिसटते हुए पार किया था। दूसरा यह, जिसे मैं अपने पैरों पर चलकर पार करना चाहती हूँ। कौन है मेरे साथ? कोई नहीं। उन्होंने मुझे ऐसी जगह लाकर छोड़ा है, जहाँ से आगे के रास्ते भी मैं नहीं पहचानती, पर मैं चलूँगी बगैर किसी सहारे के। कैसा होता है वह चलना, जहाँ कमरे में सिर्फ़ अपना हाथ हो। मैंने सख़्ती से अपनी उँगली पकड़ ली... ।''

(मैं उढ़ूँगी राख से : जया जादवानी (कहानी) असहिष्णुता जहाँ पग-पग पर दिखाई दे, वहाँ आदमी कभी-कभी सोचना बंद कर देता है और कभी ग़लत रास्ता अपना लेता है। इसलिए कि बड़े घातक समय में हम लोग जी रहे हैं। जीने का उद्देश्य निरंतर निरस्त किया जा रहा है। हर वस्तु का अर्थ हो गया है अर्थहीन। एक टिकाऊ मौसम हमारे सिर पर मँडरा रहा है। लहू और तेल बह रहे हैं एक साथ। मनुष्यों के भाव बारूद बिक रहा है। जब चीन का भारत पर आक्रमण हुआ था, तो कॉलेजों में डिबेट का विषय होता था 'शस्त्रीकरण बनाम निःशस्त्रीकरण क्या कभी

कोई एकदम अहिंसावादी हो सकता है? कारण, सहने के धैर्य की सीमा एक दिन समाप्त हो जाती है। जब तक सृष्टि है, संपन्न-विपन्न, सशक्त-दुबले का संघर्ष भी सनातन है। परंतु ऐसा वातावरण तैयार किया जा सकता है जहाँ भाई-चारा, सह-अस्तित्व को विकास की प्रभूत संभावनाएँ दी जाएँ। परस्पर मिल-जुलकर रहा जाए।

परन्तु ठीक इसके विपरीत स्थिति भी आती है, जब मनुष्य शोषित, पीड़ित होते-होते आक्रामक हो जाता है। मेमने को भी लड़ना सिखाया जाए, तो वह भी लड़ पड़ेगा। दिनकर ने 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध की समस्या उठाई है। परन्तु उनका प्रयास है कि रण हो ही नहीं। मनुष्यता, बंधुत्व, सह-अस्तित्व का वातावरण बने। पारस्परिकता को प्रोत्साहन मिले, परंतु लाख प्रयासों के बाद अहं का टकराव होगा ही। तो फिर युद्ध का बिगुल बजेगा। भीषण, नरसंहार होगा। इस रण को रोकने का एक ही उपाय है, युद्ध, भयंकर युद्ध, जिससे मानवता थर्रा उठे—

रण रोकना है तो उखाड़ विषदंत फेंको,
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो,
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दोनों में करालकाल कूट विष भर दो,
रस सोखना है मही का जो भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ो डालियाँ कतर दो।

(कुरुक्षेत्र : दिनकर, उदयाचल, पटना)

असहिष्णुता का एक कारण पद का अहंकार है। उस पद से संबंधित जो भी कार्य निष्पादित हो, पदाधिकारी को ख़ुश करना ज़रूरी है। यह सिलसिला एक सिपाही से पुलिस आयुक्त तक है, तो किसी पार्टी (सत्तासीन) के एक सदस्य से सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति तक है, फिर द्वंद्व घिर आया है कि मनुष्य झुक जाए, समझौता करे या फिर डट जाए, युद्ध को आमंत्रित करे। ऐसी-ऐसी विकट स्थिति में असहिष्णुता के विरोध में सकल करने से लोग कतराएँगे। आदर्श, नैतिकता, मूल्य कथा कभी सरल स्क्रीन पर आ पाएँगे —यही प्रश्न निरंतर मथता रहता है।

विश्व के रंगमंच पर सदा इस प्रश्न पर वाद-विवाद चलता रहता है कि विश्वव्यापी हिंसा का क्या पैमाना है, हो सकता है, जबकि आज कोई पैमाना नहीं है, राजनीतिक और सामाजिक विश्लेषक पुष्पेश पंत मानते हैं कि हाल में हुई अमेरिका के लास वेगास की हिंसा की तुलना दुनिया-भर की अन्य जगहों की हिंसा से नहीं की जा सकती। अमेरिका में इस तरह की हिंसा की जवाबदेही वहाँ के नागरिकों के हथियार ख़रीदने और रखने के बुनियादी अधिकार को जाती है। वहीं, भारत में इतनी आसानी से आग्नेय हथियार उपलब्ध नहीं हैं। संसार-भर में हिंसा के बढ़ने के पीछे कहीं-न-कहीं नस्लवादी, रंगभेदी कट्टरपंथी सांप्रदायिकता की भावना है। मध्य-पूर्व में

फैली हिंसा के लिए असहिष्णु और आक्रामक वहाबी विचारधारा और पेट्रो-डॉलर उत्तरदायी है।

ईराक के तानाशाह शासक सद्दाम हुसैन की छवि धर्म-निरपेक्ष शासक की है, परंतु सच यह है कि ईराक और सीरिया में हिंसा धर्म के नाम पर हो रही है। कट्टरपंथी वहाबी विचारधारा का सबसे बड़ा पोषक सऊदी अरब है और उसकी भूमिका में खड़ा है अमेरिका।

असहिष्णुता और हिंसा का कारण समाज के कुछ वर्गों का उत्थान है जो पहले से प्रभुत्वशाली बने वर्ग को फूटी आँख भी नहीं सुहाता। फिर क्या अपने अहंकार से वे उसे दबाने की कोशिश करते हैं और हिंसा का चक्र घूमता रहता है। कहा जाता है क़ानून तोड़ने वाला क़ानून बनाने वाले से सदा अधिक ताक़तवर होता है—

'Law breaker is always powerful than law maker'' फिर क़ानून, व्यवस्था, प्रशासन सब मूकदर्शक बन जाते हैं और हिंसा का तांडव नर्तन होता रहता है।

तब उपाय एक ही बचता है, सबका मानवता में अखंड विश्वास और उसे सुरक्षित रखने की प्राणपण से चेष्टा। जनमत संग्रह, अमन-चैन के ज्वलंत दृष्टांत देना और मानवता विजयिनी हो जाए, इसके लिए सामाजिक, राजनीतिक और वैश्विक स्तर पर भगीरथ प्रयत्न।

ललित निबंध

साहित्य के सरोकारों पर उठते सवाल

सुवंश ठाकुर 'अकेला'

वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि -

''साहित्य संगीत कला-विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छ विषाणहीनः
तृणं न खादन् अपि जीवमानः
परमं पनाम् तद् भागधेयम्।।''

(अर्थात् साहित्य, संगीत और कला-विहीन लोग बिना पूँछ और सींग के साक्षात् पशु हैं। घास न खाते हुए भी जीव हैं और पशुओं का ही बहुत बड़ा हिस्सा है।)

किन्तु इस सूक्ति के उद्देष्य की पूर्त्ति हम कर रहे हैं? यह एक विचारणीय विषय है। हम सभी सुनते-समझते और पढ़ते आए हैं कि 'सहितस्य भावः साहित्यः'। विकृतियों से भरे वर्तमान में इस परिभाषा के सरोकार पर पुनर्विचार करने की ज़रूरत आ पड़ी है। क्या हम इस भाव की पूर्त्ति कर रहे हैं? अथवा यूं ही काग़ज़ और रोशनाई की खपत बढ़ाकर अपने उत्तरदायित्व की इतिश्री समझते हैं? दुष्यंत कुमार ने कहा कि - '' सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं, मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए''। भूख, भय और भ्रष्टाचार की कोई जाति नहीं होती। खाये अघाये लोगों की भूख और विपन्न आर्त्तजनों की भूख में बहुत फ़र्क़ होता है। बहुत से अहम् सवाल आज हमारे सामने हैं। ये सवाल साहित्यिक देवताओं के मुखौटे पर दुष्ट दैत्य की तरह अट्टहास कर रहे हैं और हम जश्न मना रहे हैं। क्या साहित्य अहम्मन्यता प्रदर्शन के लिए? क्या साहित्य चादर ओढ़ने और माला पहनने के लिए? क्या साहित्य प्रशस्ति-पत्र प्राप्त करने के लिए? क्या साहित्य अख़बार में नाम और तस्वीर छपवाने के लिए?

*डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला', 'शिल्पायन' सिपाही टोला, चूनापुर रोड, उत्तर गली नं. -11, पूर्णियाँ-854301 (बिहार) मो. नं. 09973264550.

क्या साहित्य जातिवाद और सम्प्रदायवाद के विष-वमन और विष-बेल-रोपन के लिए? क्या साहित्य जुगाड़ से पत्रिकाओं में रचना छपवाने के लिए? ऐसे अनन्त सवाल वर्तमान साहित्य के लिए हो सकते हैं। साहित्य के क्षेत्र में वर्तमान संक्रामक बीमारियाँ प्रदूषित महानगर दिल्ली से चलकर सर्वत्र व्याप्त होती जा रही हैं। धीरे-धीरे कस्बाई इलाकों में भी फैलती जा रही हैं। यह गंभीर चिन्ता का विषय है। जाने-अनजाने हमारी गतिविधियों और वास्तविकता पर आम लोगों की नज़र रहती हैं, जिसे हम समझ नहीं पाते। उनकी वही दृष्टि हमारी रचनाओं के मूल्यांकन का आधार बनती है।

ऐसी बात नहीं है कि हमारे समाज के लोग उदार नहीं हैं। वे हमारे क्षम्य अपराधों को क्षमा भी करते हैं। वे हमारे अँधेरे और उजाले दोनों पक्षों को देखते हैं। यह तय है कि हमारा साहित्य, समाज-हित के लिए प्रतिबद्ध है। अनगिनत साहित्यिक मंच, संघ और खेमे हर जगह चल रहे हैं। अध्यक्ष, सचिव, महासचिव और कोषाध्यक्ष के गरिमामय पद स्वयं सृजित हो रहे हैं। पद की प्राप्ति के लिए घिनौनी तिकड़में चलती रहती हैं। महानगर में आलाकमान पतंग की डोर थामे हुए हैं। कोई प्रकाशक, सम्पादक और कोई उच्च पदासीन है। साहित्य पैसे कमाने का व्यापार बनता जा रहा है। साहित्यकार अपनी रचनाओं में वैश्वीकरण और बाज़ारवाद की निंदा करते अघाते नहीं। भारतीय संस्कृति के क्षरण और विलुप्त होने की बात करते हैं। अपनी चिन्ता और अपने दुःख प्रकट करते हैं। कुछ लोग अपनी रचनाओं के तर्क और पक्ष में कहते हैं, जो आज की माँग है उसे तो पूरी करनी ही होगी। माँग जो बाज़ार की भाषा है। हर माँग की पूर्ति करना, बनिया वर्ग के लोगों के काम है। हम समाज के जागरूक और प्रबुद्ध लोगों की गिनती में हैं। हमें तो उन कुटेवों और अहितकर वीभत्स माँगों का विरोध लिखना ही चाहिए। अहितकर आधुनिकता के अंधानुकरण पर विरोध जताना चाहिए। हमें अपनी संस्कृति पर गर्व करना चाहिए और पश्चिम के समक्ष आदर्श रखना चाहिए न कि उसके पीछे भागना चाहिए। किन्तु हम उसकी भागीदारी कर नाहक प्रसन्न हो रहे हैं। वैज्ञानिक विकास हो अथवा वैचारिक विकास उसे हितैषी विकास की सीमा तक ही स्वीकार करना चाहिए। विकास का नाम देकर विनाश की ओर बढ़ना बुद्धिमानी नहीं मानी जा सकती। अति बौद्धिकता और अहितकर तार्किकता के कारण हम समाज से कटते जा रहे हैं। और हम आमजन के साहित्य से दूर होते जाने का रोना रो रहे हैं। फिर साहित्य के हाशिये पर चले जाने का अरण्यरोदन करते हैं। अपनी भूल को स्वीकार नहीं करते। समाज पर ही संवेदनहीनता और बर्बरता का आरोप मढ़ते जा रहे हैं। समय आ गया है कि साहित्यकार अपने भीतर झाँकें। वीभत्सता मुक्ति का सौंदर्य नहीं हो सकती। अपनी कथनी और करनी में व्याप्त छत्तीस के आँकड़ों को देखें। ऐसा न हो कि भविष्य हमारे महज़ काग़ज़ी साहित्य को अमान्य कर दे। यही हमारी चिन्ता का विषय है। बच्चे भी हमारे करने को सीखते हैं, सिर्फ़ कोरे कहने को ख़ारिज कर देते हैं। लोग, पहले हमारे आचरण को पढ़ते हैं, फिर हमारे साहित्य को पढ़ने की इच्छा जताते हैं। एक समय कबीर उपेक्षित

थे, किन्तु आज उनका साहित्य सर्वमान्य है। गाँधी जी के आचरण और साहित्य में कोई भेद नहीं था। वर्तमान में सवाल खड़ा हो गया है कि हम जो कर रहे हैं, क्या वही साहित्य है, साहित्य समाज का दर्पण है, किन्तु ऐसा नहीं कि वह धूल-धूसरित हो और जगह-जगह से टूटा हुआ हो। हमें यह भी सोचना होगा कि सहितस्य भाव साहित्यकार का अथवा समाज का?

जिस दोहरे चेहरे, छद्म आचरण की निंदा करते हम कवि, कथाकार, रचनाकार अपनी रचनाओं में नहीं अघाते, क्या अब उसे अपने में देखने का समय नहीं आ गया है? तमिलनाडु की मुख्यमंत्री जयललिता को हम सभी जानते हैं। उनकी कोई कहानी, कविता है भी या नहीं, मुझे पता नहीं। अख़बारी समाचार के अनुसार उनकी मौत पर अम्मा-अम्मा कहकर आम लोग छाती पीटते देखे गए। शोक और व्यथा में, उनकी याद में तीन सौ से अधिक लोगों ने प्राण गंवाये। इसका नाम है सहितस्य भावः। हमारे-आपके मरने पर कितने लोग याद करने वाले हैं? बहुत होगा तो अख़बारों में और पत्रिकाओं में महज़ औपचारिकतावश शोक-संदेश छप जायेगा। कारण स्पष्ट है कि हमें समाज से कोई ताल्लुक नहीं रह गया है। समाज के बारे में जो कुछ लिखते हैं, वे मात्र दिमाग़ी कसरत है। स्पष्ट है कि हमारी रचनाओं और आचरण के कोई सामाजिक सरोकार नहीं हैं। हम जो कुछ लिख रहे हैं मात्र विद्वता और पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए। अहम प्रदर्शन के लिए हम तर्कों के जाल बुनते रहते हैं। मात्र एक ही वृत्त के कुछ लोगों के साथ सभा-सोसायटी के कार्यों में व्यस्त रहते हैं। बात मानें या न मानें, वह कहीं से भी साहित्य नहीं है। चंद कहानियाँ और कविताएँ लिखकर अपने को साहित्यकार मान लेना कहीं से भी उचित नहीं है। मेरी तो इच्छा है कि काग़ज़ और रोशनाई के ख़र्च करने में मितव्ययिता अपनाना साहित्य और समाज दोनों के हित में है। निराला और नागार्जुन का अभाव आज साहित्यकारों को नहीं है। धन-बाहुल्य के कारण किताब छपवाकर शक्ति-प्रदर्शन हो रहे हैं। मैं इससे सहमत हूँ कि - 'जाके पाँव न फटी बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई।' ए. सी. कमरे और सुविधाओं में जीकर जनकवि नहीं बना जा सकता।

आये दिन रचनाओं की चोरी, नकल और भाड़े पर लिखवाने की निन्दा स्तरीय पत्रिकाओं में धड़ल्ले से आ रही है। रचनाकार की पाण्डुलिपि की चोरी और छीनाझपटी की भी बात सामने आती है। उसके मरणोपरान्त झपटनेवाले अपने नाम से किताब छपवा लेते हैं। लोकार्पण होता है। नाश्ते के पैकेट बँटते हैं। चाय, कॉफी तोड़मतोड़ चलती है। सभी उपस्थित जन, सरोकारों को अनदेखा कर रचनाओं में चार चाँद लगाते हैं। प्रायोजित समीक्षक बड़ाई का पहाड़ खड़ा कर देते हैं। रचनाकार गद्गद हो जाते हैं। ऐसे छद्म साहित्यकारों को बधाई, धन्यवाद और शुभकामनाएँ सम्प्रेषित की जाती हैं। प्रशंसा सुनकर रचनाकार अपनी पत्नी से अपनी बाँह पुजवाते हैं और समाज होंठ चाटते रह जाता है। चन्द दिनों में ही दीमक किताबों को भोग बना लेती हैं। जिस अच्छे और सच्चे रचनाकारों के पास अर्थाभाव है, वे किताब छपवा नहीं

पाते और अपनी छाती में मुक्का मारते हैं। आये दिन पत्रिकाओं में उत्कोच-प्रिय पदाधिकारियों की भूख और भ्रष्टाचार पर धड़ल्ले से रचनाएँ छप रही हैं। ऊँची पत्रिकाओं में पदाधिकारीगण अधिक संख्या में छपते हैं। सम्पादक को उनकी रचना छापने में काफी लाभ होता है। बेचारे सम्पादक क्या करेंगे? आख़िर दुकान कैसे चलेगी? इन कृत्यों को देख-सुनकर कितने लोग सिहरते हैं? क्या यही संवेदनशीलता है? हमारे बीच बहुत ऐसे नीलेहे सियार हैं और हम उन्हें प्रतिष्ठापित किये जा रहे हैं? क्या यही आचरण साहित्य और समाज-हित में है? क्या साहित्य अकादमिक डिग्रियाँ और स्टेटस प्रदर्शन के लिए? ऐसे तो साहित्यिक विकृतियों पर अनन्त सवाल उठाये जा सकते हैं। आज प्रत्येक रचनाकार का फ़र्ज़ बनता है कि इस विषय पर पुनर्विचार करे। क्या मंचाधीश, मठाधीश और पत्रिकाधीश मात्र बनना साहित्य का श्रेय और प्रेय है? कुछ गड़बड़ लोगों के कारण साहित्य उपालम्भ का शिकार होता जा रहा है। चूँकि साहित्यकार समाज के फ़ज़ीलत-प्राप्त व्यक्ति होते हैं। इसीलिए और भी चिन्तनीय विषय है। मेरे कहने का क़तई यह अर्थ न लगाया जाए कि मंच और पत्रिकाओं की ज़रूरत नहीं है, किन्तु उसे लोकहित के सरोकारों से संबद्ध तो होना ही चाहिए। सचमुच जीवन के तत्त्वों एवं साहित्य के सिद्धान्तों में फ़र्क़ होना दुर्भाग्यपूर्ण है।

साहित्य, मानव जीवन का पुनर्सृजन है तो प्रगतिशीलता और समकालीनता उनके परिणाम हैं। इसमें वीभत्सता के लिए कोई जगह नहीं होनी चाहिए। सच कहा जाना चाहिए, किन्तु उसके रूप विकृत न हों। मुझे यह भी लगता है कि जिस मनुवाद की निन्दा करते साहित्यकार नहीं थकते, किसी न किसी रूप में उसकी पुनर्स्थापना करते जा रहे हैं। बदले की भावना से सुन्दर साहित्य के सृजन नहीं हो सकते। हम भूल जाते हैं कि इतिहास पुनरावृत्ति करता है। हम राजनीतिज्ञों की लय पर रचनाएँ करते हैं और सभा आयोजित करते हैं। हम सभी ने अख़बार में देखा है - एक युवा मुख्यमंत्री के चरणों में वयोवृद्ध साहित्यकार को साष्टांग प्रणाम करते। समाज और लोकहित में परिणाम टाँय-टाँय फिस्स। यह कहीं से भी उचित प्रतीत नहीं होता। जिस संवेदनशीलता की दुहाई देकर हम रचनाकर्म में तल्लीन रहते हैं, कहीं वह हमारे दिखावे तो नहीं? क्या रचना को निर्जीव क़लम तक सीमित रखना उचित है? समय की पुकार है कि हम आत्मावलोकन करें। किसी को हम प्रजातंत्र का ठेकेदार कहकर लांछित करते आ रहे हैं और हम साहित्य के ठेकेदार बनकर समाज के पूजित देवताओं की कतार में खड़े होने की होड़ में हैं। मेरी लंबी कविता संस्कृति उवाच की ये चार पंक्तियां इस आशय में ध्यातव्य हैं -

''पूजित देवों की कतार में
कुछ छद्म छबीले घुस आते हैं,
इन्सानों की ऐसी-तैसी
छद्म छबीले पूजे जाते हैं।''

आये दिन पत्रिकाओं में ऐसी रचनाएँ थोक भाव में छप रही हैं जिनका जीवन, समय और समाज से कोई सरोकार नहीं है। कहानियों में सेक्स की छौंक पर छौंक लगाये जा रहे हैं। स्त्री-विमर्श के नाम पर गहरी साज़िश के तहत वीभत्स लेखन कर स्त्रियों को बेपर्दा किया जा रहा है। कथाकार पर बाज़ारवाद का असर है। इसमें कुछ लेखिकाएँ भी आगे-आगे चल रही हैं। मैं इसे पुरुष-सत्ता की गंदी हरकत मानता हूँ। सभी जानते हैं कि यह मैथुनी सृष्टि है। हम साहित्यकारों का यह कर्त्तव्य नहीं है कि उसे बेपर्दा करके परोसें। आज भी भारत में उत्कृष्ट स्त्रियों की कमी नहीं है, किन्तु कहानियों में बिरले उन्हें पात्र बनाये जाते हैं। तो क्या हमारे यही अभिप्राय बचे हैं कि गंदगियों को फैलावें? खुले में शौच जाने की चारों तरफ़ निन्दा हो रही है। सरकार शौचालयों के निर्माण पर ज़ोर दे रही है और हम हैं कि वैचारिक गंदगी फैला रहे हैं। क्या ऐसी रचनाओं को जो समाजहित में नहीं है सहित्य भाव माना जाए? मुझे लगता है जो बातें मेरे मन में खौलते दूध की तरह उबल रही है, शायद हर रचनाकार के मन उबलती होंगी। आज ज़रूरत है अपनी सृजनशीलता पर ग़ौर करने की। रचनाओं के संख्यात्मक चक्रव्यूह से निकलकर मानवता के सरोकारों से सम्पन्न गुणात्मक रचनाओं की ओर अग्रसर होने की। अन्धाधुन्ध रचनाएँ शायद किसी काम की नहीं। हमारी रचनाएँ निर्माणात्मक हैं या विध्वंसात्मक, प्रगतिशील हैं या दुर्गतिशील, इसकी पहचान करनी होगी। कहीं हम घूम-फिरकर सामंतवाद की स्थापना तो नहीं कर रहे? साम्यवाद के कोरे नारे लगाने से साम्यता स्थापित नहीं होगी। प्रायः देखा जाता है कि पद, प्रतिष्ठा और पैसे पाते ही फिर बेताल उसी डाल पर। अंधेरे में अलग और उजाले में थलग। मंच पर कुछ और मंच से उतरते ही कुछ और।

काव्य के सम्बन्ध में अथर्ववेद की एक ऋचा है - ''पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'' अर्थात् परमात्मा के काव्य, इस सृष्टि को देखो, जो न मरती है और न पुरानी होती है। इसका क़तई यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि यह प्रगतिशीलता में बाधक है। हम सभी देख रहे हैं कि जीवन और मृत्यु का सिलसिला नित्य ज़ारी है। पतझड़ है तो बसंत भी। ग्रीष्म है तो वर्षा भी। रोज़ नये-नये पौधे जन्मते हैं।

साहित्य के सरोकारों पर और भी कई सवाल उठाये जा सकते हैं। उनके समाधान ढूँढे जा सकते हैं। श्रमसाध्य है मगर दुष्प्राप्य नहीं।

अंत में, साहित्य के उद्देश्यों और सरोकारों से संबद्ध मैक्सिम गोर्की का यह वक्तव्य ध्यातव्य है -

''साहित्य का उद्देश्य है—ख़ुद अपने को जानने में मनुष्य की मदद करना, उसके आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और उसके सत्यान्वेषण को सहारा देना। लोगों की अच्छाइयों का उद्घाटन करना और बुराइयों का उन्मूलन करना। लोगों के हृदय में क्षमाशीलता, गुस्सा और साहस पैदा करना। ऊँचे उद्देश्यों के लिए शक्ति बटोरने में उनकी मदद करना और सौन्दर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना।''

नागालैंड का भाषा-साहित्य : स्वरूप विवेचन

दिनेश कुमार चौबे*

प्राकृतिक सुषमा से परिपूर्ण पूर्वोत्तर राज्य भाषिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि से भिन्न है। आठ राज्यों के समूह से बना पूर्वोत्तर राज्यों का भारत में अपना विशिष्ट स्थान है। भाषायी भिन्नता के कारण पूरा क्षेत्र कई समाजों में बँटा हुआ है। नागालैंड पूर्वोत्तर भारत के 8 राज्यों का एक महत्त्वपूर्ण राज्य है, जिसे दिनांक 1 दिसंबर 1963 को भारत के 16वें राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। प्रशासनिक सुविधा हेतु राज्य को 11 ज़िलों में विभाजित किया गया है—कोहिमा, वोखा, फेक, मोकोकचुआंग, तुएनसांग, मोन, जुन्हेबोतो, दीमापुर, लॉन्गलेन्ग, कैफाइट तथा 'पेरेन'। नागालैंड जाति, जनजाति बहुल राज्य है जहाँ कुल आबादी में उनका प्रतिशत 89 है। नागालैंड की मूल जनजातियों में 14 जनजातियाँ प्रमुख मानी जाती हैं, जिनकी अपनी अलग-अलग भाषाएँ तथा जातिगत रीति-रिवाज एवं व्यवस्था प्रचलित है। ये जनजातियाँ हैं—रियांग, कोन्याक, आओ, सेमा, अंगामी, लोथा, सान्तम, फोम, चांग, खियमंग्न, यिमचुंगर, जेलियांग चखेसोंग और रेंगमा। इनके अलावा कुकी आदि अन्य चार प्रकार की जाति के लोग भी नागालैंड में निवास करते हैं। इन सभी जनजातियों की अपनी भाषाएँ हैं, जो तिब्बती-वर्मन परिवार से सम्बन्धित हैं। सम्पर्क भाषा के रूप में यहाँ पूरे राज्य में नागामी भाषा का प्रचलन है, जिसमें अपभ्रंश असमिया एवं अन्य भाषाओं में अंग्रेजी, बांग्ला, हिंदी, नेपाली के शब्द व्यवहृत होते हैं। इनमें से अधिकांश लोग ईसाई धर्म के हैं।

नागालैंड में अब तक जितने भी साहित्य प्राप्त होते हैं उनमें लिखित साहित्य की अपेक्षा मौखिक साहित्य की संख्या अधिक है, जिनमें लोकगीत, लोककथा, कहावतें, मुहावरे और लोक ज्ञान आदि प्रमुख हैं। यहाँ के लोगों को वानस्पतिक पौधों, जड़ी-बूटियों आदि का अद्‌भुत ज्ञान है। अपने इस ज्ञान का उपयोग लोग साधारण रोगों में चिकित्सा के लिए करते हैं। यहाँ की लोक-कथाओं में सृष्टि की सर्वोत्तम सत्ता, प्रकृति और मनुष्य-जीवन मानव सभ्यता के विकास का संघर्ष, लोक एवं समाज के

* हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-22, मो. नं.- 9436312134

विधि-निषेधों आदि की बातें भरी पड़ी हैं। नागा भाषाओं की लिपि रोमन है। नागालैंड की पहली प्रकाशित पुस्तक आओकी 'माटी जिलुबा ओत्ज्ब ताजुम' (1883) जो डॉ. ई. डब्ल्यू. क्लार्क द्वारा लिखित है। जबकि उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 1881 में प्रकाशित 'मिजुम असिबा' मानी जाती है। अंगामी की स्कूल की पुस्तक 1994 में मिलती है। लोथा में बाइबिल का सबसे पहला अनुवाद 1885 में प्रकाशित हुआ। सेमा में एक कविता की पुस्तक 1918 में प्रकाशित हुई। नागा साहित्य को कालक्रमानुसार छह दशकों में बाँटा गया है, जो इस प्रकार है—1949 से 1958, 1959 से 1968, 1969 से 1978, 1979 से 1988, 1989 से 1998, 1999 से 2008 तक।

नागा साहित्य में वर्णित मुख्य विषय हैं—शब्दकोश, धर्म, नागा रीति, नीति, परम्परा और विविध लोक साहित्य। आओ भाषा में 1949 से 2008 तक 151 विविध विषयों में साहित्य उपलब्ध है? इसमें धर्म से संबंधित 88, शब्दकोश 2, परंपरा एवं लोक साहित्य 30, आत्मकथा 15, भाषा विषयक 5, कृषि, स्वास्थ्य की लगभग 8 पुस्तकें प्राप्त होती हैं।

चोकरी भाषा में 1999 से 2008 तक मात्र तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं। इसी तरह खेज भाषा में सैट पुस्तकें उपलब्ध हैं। वर्तमान में यह भाषा स्कूलों में पढ़ाई जाती है। लोथा भाषा में प्राप्त साहित्य की संख्या 12 है— शब्दकोश 01, धर्म सम्बन्धी 2, परंपरा लोक साहित्य 6, भाषा विषयक 3।

पोचुरी कई बोलियों का समूह है, जो 1946 में तिनाइदी से अलग हुई, इसके पहले विद्यालयों में तिनाइदी ही शिक्षा की माध्यम भाषा रही। तिनाइदी में शब्दकोश 2, धर्म सम्बन्धी 62, लोक साहित्य और परंपरा 35, भाषा विषयक 11, कृषि, स्वास्थ्य एवं इतिहास 10 एवं साहित्य सम्बन्धी 51 पुस्तकें प्राप्त होती हैं। पोचुरी में कुल 16 पुस्तकें उपलब्ध हैं — शब्दकोश 1, परंपरा भाषा एवं लोक साहित्य 9, धर्म सम्बन्धी 6। सेमा भाषा मोकोक्चुंग ज़िले में प्रचलित है। इसमें 21 पुस्तकें 1979 से 2008 तक की अवधि में प्रकाशित हैं — धर्म सम्बन्धी 5, परंपरा, लोक साहित्य एवं भाषा विषयक 12, नागा नीति 4।

जेमा भाषा में 1949 से 2008 तक 16 पुस्तकें प्राप्त होती हैं। जेमा भाषा 1946 तक तेनिमिया भाषा समूह में सम्मिलित थी। जेमा भाषा में शब्दकोश 1, धर्म सम्बन्धी, 10, लोक साहित्य भाषा विषयक 5, पुस्तकें पाई जाती हैं। ये सभी पुस्तकें गुवाहाटी, जोरहाट, इम्फाल, शिलांग, दीमापुर, कोहिमा, मोकोक्चुंग, ओखा आदि स्थानों से प्रकाशित हुई हैं।

नागा भाषाओं में सबसे अधिक धर्म सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन हुआ है। उसके पश्चात् साहित्य, लोक साहित्य, एवं भाषा सम्बन्धी साहित्य तथा शब्दकोश प्रकाशित मिलते हैं। अंगामी भाषा नागालैंड विश्वविद्यालय में पढ़ाई जाती है। इसकी सबसे पहली पुस्तक कैप्टन जे. बटलर की 'रफ नोट्स ऑन द अंगामी नागास एंड दियर लैंग्वेज' नाम से द जनरल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल द्वारा 1875 में

प्रकाशित हुई। दूसरी पुस्तक 'आउटलाइन ग्रामर ऑफ दि अंगामी नागा लैंग्वेज' नाम से आर.बी.एम.सी. कोबे द्वारा 1887 में तैयार की गई, जो खोनोमा, मेजोमा, जोत्सोमा क्षेत्रों में अंगामी भाषा को आधार बनाकर इस भाषा का व्याकरण तैयार हुआ। इसमें योगदान देने वाले विद्वानों में रिवेंबुर्ग, ग्रिएंसोन, सुप्ली एवं हरालु आदि प्रमुख हैं। अंगामी भाषी लेखक एवं शोधकर्ता नैचुरियाजो चुचा का जन्म 1948 में नागालैंड के कोहिमा जिले के खोनोमा गाँव में हुआ था। वे एक शोधकर्ता हैं और कई पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित हुए। अंगामी भाषा में इनके द्वारा प्रकाशित तीन कृतियाँ 'टेनी मी', 'केलहू जे' एवं 'हेडेडा अंगामी सिडे केथ्युड' बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उन्हें 1996 में नेशनल अवॉर्ड फॉर टीचर तथा 1999 में स्टेट ऑफ नागालैंड अवॉर्ड फॉर टीचर' से नवाज़ा गया। उन्होंने नागा जनसंस्कृति एवं भाषा पर विशेष शोध कार्य किया है।

साहित्य के क्षेत्र में नागालैंड की अंग्रेजी कवयित्री तेमसुला आओ का विशिष्ट स्थान है। भारतीय अंग्रेजी साहित्य की गरिमा को तेमसुला आओ की रचनाधर्मिता के मूल्यांकन के बिना नहीं समझा जा सकता। प्रो. तेमसुला आओ पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय में अंग्रेजी विभाग में अध्यापिका एवं संकायाध्यक्ष थीं। उन्हें उनकी महत्त्वपूर्ण रचनाओं के लिए पद्मश्री से अलंकृत किया गया है। आज भी वे साहित्य सृजन एवं सामाजिक सांस्कृतिक कार्यक्रमों में संलग्न हैं।

इनके अतिरिक्त निनिलिङदोह, इस्टराइन इरालू, मोनालिसा चंकाकिजा, हेकाली झीमोमी, लानुसग्ला टूजुदीर, अकानितों जी एसुमी आदि रचनाकारों द्वारा नागा भाषा साहित्य पर विशेष लेखन कार्य किया जा रहा है। निनिलिङदोह का जन्म 1948 में कोहिमा के अंगामी जेलियांग जनजाति में हुआ था। इन्होंने अंग्रेजी साहित्य में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। अंगामी भाषी निनिलिङदोह अंग्रेजी भाषा में लेखन करती हैं। अब तक केवल एक काव्य संग्रह प्रकाशित हैं। वर्तमान समय में यह नार्थ फील्ड स्कूल कोहिमा में अंग्रेजी तथा शास्त्रीय संगीत का शिक्षण दे रही हैं। कविताओं का उदाहरण दृष्टव्य है, जिसका हिंदी अनुवाद कंचन शर्मा तथा पुनरीक्षण रमणिका गुप्ता ने किया है।

जब मेरे दिन सब ख़त्म हो जाएँगे
और खड़ा होना होगा मुझे
अकेले वस्त्रहीन
मेरे सम्पूर्ण, अहम्, अभिमान के बिना
अपनी आशाओं और आकांक्षाओं
दयनीयता और असफलताओं के वृहतघेरों के साथ
मैं सामना करूँगी अपने सृष्टा का
और देखूँगी स्वयं अपना प्रतिबिम्ब उसकी दृष्टि में।

इस्टराइन इरालू का जन्म 29 मार्च 1959 में अंगामी जनजाति में हुआ था। इन्होंने एम.ए. साहित्य तथा पीएच.डी. अंग्रेजी विषय से की। इनके द्वारा तेनयिडी

भाषा में तीन उपन्यास तथा अब तक दो कविता-संग्रह प्रकाशित है। इनके कविता 'नुजुऊ' का उदाहरण दृष्टव्य है, जिसका हिंदी अनुवाद अकील कैस तथा पुनरीक्षण रमणिका गुप्ता ने किया है।

आए थे जब हाथ माँगने मेरा तो बोले थे वे–

'खांऊनोजू' जगह अच्छी है तुम्हारे रहने के लिए।
और बदले में माँग लिया मेरा जीवन
मैं गयी और देखा–बुड्ढा पति अपना
मुमकिन नहीं था जवाँ होना जिसका फिर से
पाँच दिन में ही लौट आई मैं अपने गाँव।

मोनालिसा चंककिजा का जन्म 1960 में असम राज्य के जोरहाट ज़िले के अंगामी जनजाति में हुआ था। इनका लेखन कार्य अंग्रेजी भाषा में है। अब तक इनके दो काव्य संग्रह प्रकाशित है। इनके कविता का उदाहरण दृष्टव्य है, जिसका हिंदी अनुवाद तथा पुनरीक्षण रमणिका गुप्ता ने किया है।

मैं कभी मुक्त नहीं हूँगी
तुम्हारी बाँहों के घेरों से
अगर तुम नहीं पूछोगे मुझसे
ख़ून का गणित
×××
मेरी किशोरावस्था की निशानियों की राख है
जो हिंसा के हाथों के हस्ताक्षर हैं
मदद के लिए
'इरेनिस' का आह्वान करते हैं।

लोक कथाओं का संग्रह 'फोक टेल्स' नार्थ ईस्ट ऑफ इंडिया नामक पुस्तक, इन तीन विद्वानों हेकाली झीमोमी, लानुसग्लाट्जुदीर, अकनितो जी अस्सुमी के द्वारा सम्पादित है। जिसका भाष्य 'अकनितो जी अस्सुमी' ने किया है? इसमें नागालैंड की पाँच लोककथाएँ उल्लेखनीय हैं। 'राईस बियर स्टोरी' (लाऊ पानी की कथा), 'फायर एंड वाटर' (आग और पानी की कथा), 'मादू एंड द टाइगर' (मादू और बाघ), 'द ओरिजिन ऑफ लाफ्टर' (हास्य का मूल), और 'द एडवेंचर ऑफ ईकी द मिस्चिफ मोंगेर' (धूर्त इकी का दुस्साहस)।

1954 में अंगामी मातृभाषा पाठ्य-पुस्तक समिति बनाई गई, जिसके द्वारा पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया गया। 1988 में कोहिमा कॉलेज में इसका अध्ययन प्रारम्भ हुआ और 1997 में नागालैंड विश्वविद्यालय में अंगामी भाषा का प्रारम्भ हुआ। आज नागालैंड विश्वविद्यालय में तेंयिदि, भाषा साहित्य में उच्च शिक्षा की व्यवस्था है।

तिब्बती परिवार के नागा समूह की 19 भाषाएँ प्रमुख मानी जाती हैं, जो नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश एवं मणिपुर में बोली जाती हैं। इनमें से 13 प्रमुख रूप से नागालैंड में बोली जाती हैं। ये भाषाएँ प्राथमिक स्तर तक स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। इनमें से माध्यमिक स्तर पर आओ, हाई स्कूल तक अंगामी विषय के रूप में पढ़ाई जाती है। इन भाषाओं को बोलने वाले लगभग सब के सब ईसाई हैं। किसी एक सामान्य संपर्क भाषा के अभाव में यहाँ के लोग आपस में नागामिज बोलकर अपना काम चला लेते हैं। नागामिज एक मिली-जुली शब्दावली से निर्मित भाषा है, जिसमें सबसे अधिक शब्द असमिया के लिए गए हैं। दूसरे स्थान पर हिन्दी शब्दावली और तीसरे स्थान पर स्थानीय बोलियों तथा अंग्रेजी आदि की शब्दावली आती है। इस भाषा को प्रारम्भ में ग्रियर्सन ने असमिया का टूटा-फूटा रूप कहा था। किन्तु, भाषा वैज्ञानिक एम.वी. श्रीधर ने नागामी को एक 'पिजन भाषा' कहा। श्रीधर ने अपनी पुस्तक, ''सोशियों लिङ्ग्विस्टिक स्टडी ऑफ इंटर लिंग्वल कम्युनिकेशन पैटर्न इन नागालैंड'' और ''स्टैंडराइस्ड ग्रामर ऑफ पिजन'' में नागामी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। एक अन्य विद्वान बी.के. बरुआ ने ''नागामीज : द लेंग्वेज ऑफ नागालैंड'' पुस्तक लिखकर इस भाषा का विश्लेषण किया है। अभी तक नागामी में साहित्य रचना प्रारम्भ नहीं हुई है किन्तु धनी बरुआ जैसे उत्साही लोगों ने इस पिजन भाषा में कुछ लोक कथाओं का अनुवाद किया है।

नागाओं की उतनी ही बोलियां है जितनी कि उनकी जातियाँ। हर बीस मील पर जाति बदल जाती है उसी तरह उनकी बोली भी बदल जाती है। सभी बोलियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं, इसलिए एक जनजाति के लोग दूसरी जनजाति की बात को नहीं समझ सकते। इसका कारण यह है कि प्रत्येक जाति में उपजातियाँ बनती गईं और बाहर के लोगों से उनका सम्बन्ध घनिष्ट न हो सका।

यहाँ राजभाषा के रूप में अंग्रेजी और संपर्क भाषा के रूप में नागामिज प्रचलित है। नागालैंड की पूरे राज्य स्तर पर कोई एक भाषा नहीं रही और लिपि की उन्होंने कभी आवश्यकता महसूस नहीं की। इसका कारण यह था कि सभी लोग एक दूसरे से आसानी से मिल-जुल सकते थे तथा अपनी भावनाओं को खुलकर व्यक्त करने में सक्षम थे। फिर भी जहाँ मनुष्य है, वहाँ समाज है और आपस में व्यवहार के लिए भाषा, बोली। इसलिए इन भाषाओं में कहानियाँ भी हैं और गीत भी। प्रत्येक नागा जाति की अपनी लोक कथाएँ हैं और लोकगीत हैं। नागालैंड की कहानियों में वही चमत्कार और रोचकता है और साथ ही साथ कोई न कोई संदेश भी है जैसा कि हमारे पुराणों, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि में है। उनके लोकगीतों में भी उन सभी रसों का आनंद मिलता है जो उन्हें उत्कृष्ट काव्य बना देता है। इन गीतों में सहजता है, सरलता है। इसमें प्यार और घृणा, निर्माण और विनाश, सुख और दुःख आदि सभी मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है।

नीलकंठ का स्वप्न : एक स्वर वंदना का

क्रांति कनाटे*

'मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा', ग्वालियर के अध्यक्ष तथा 'प्रेमचंद सृजन पीठ', उज्जैन के निदेशक रह चुके श्री जगदीश तोमर का हाल ही में प्रकाशित उपन्यास 'नीलकंठ का स्वप्न' अनेक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यूँ तो तोमर जी के खाते में साहित्य की अन्य विधाओं की बहुतेरी पुस्तकें हैं, परंतु 'नीलकंठ का स्वप्न' उनका पहला उपन्यास है। 'नीलकंठ का स्वप्न' की पृष्ठभूमि में व्यक्ति का समाज और राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्व का बोध है। यह उपन्यास हमें बहुत कुछ सोचने को बाध्य करता है।

देश को स्वतंत्र हुए पूरे सत्तर वर्ष हो गए हैं, जिसमें चार पीढ़ियों का श्रम, और समर्पण लगा है, अतः यह सही समय है कि हम चतुर्दिक देखकर थोड़ा ठहरें, चिन्तन-मनन करें कि अभी हमारी सोच में, हमारे व्यवहार में कहाँ-कहाँ और कितने परिमार्जन की आवश्यकता है और हम जब इस बिंदु पर आएँगे तो निश्चित ही 'नीलकंठ का स्वप्न' हमें बहुत कुछ दे जाएगा। उपन्यास का कथानक उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितने उसमें व्यक्त राष्ट्रीय चेतना से परिपूरित विचार हैं जहाँ उपन्यास के प्रमुख पात्रों में एक अमल दा कहते हैं। ''हम श्रेष्ठ कलाविद् हो सकते हैं। विश्व की सुंदरतम मूर्तियाँ गढ़ सकते हैं? संगीत, नृत्य और साहित्य में श्रेष्ठतम रचनाएँ कर सकते हैं? अध्यात्म के क्षेत्र में विश्व के समक्ष उच्चतम ज्ञान प्रकट कर सकते हैं? परंतु यदि हम अशक्त हुए तो किसी दिन सब कुछ व्यर्थ हो जाएगा। आततायी हमारा सब कुछ नष्ट कर देंगे। इसीलिए शक्ति की उपासना हमारी शीर्ष

* क्रांति कनाटे सम्पर्क- 203, साईनाथ, स्क्वेयर, मदर्स स्कूल के पीछे, जलाराम चौकड़ी, वड़ोदरा-390021, मो. 9904236430

** उपन्यासः नीलकंठ का स्वप्न लेखक : जगदीश तोमर प्रकाशक : आलोकपर्व, शाहदरा, पृष्ठ संख्या : 176 मूल्य : 450/-

प्राथमिकता होनी चाहिए। दीन-दुर्बल के मुँह से विश्व-मंगल का संदेश शोभा नहीं देता।'

'नीलकंठ का स्वप्न' के प्रमुख पात्र अमलेन्द्र प्रताप सिंह, सुबोध बाबू, सुस्मिता एनीला, प्रभा, वंदना देवी आदि का भौतिक रूप से बाँधा जा सके ऐसा कोई रिश्ता नहीं पर माँ भारती के ये साधक-आराधक एक अटूट बन्धन से आपस में जिस तार से जुड़े हैं, वह है राष्ट्र-चिन्तन का वह है देश को सशक्त-समृद्ध बनाने में अपने योगदान का। ये पात्र हमारे आसपास फैले बुद्धिजीवियों की तरह मात्र 'टेबल टॉक' नहीं करते, अपितु गाँव-शहरों के खुले मैदानों में उतरकर 'फील्ड वर्क' करते हैं। आदिवासियों की समस्याओं पर कोई विमर्श आयोजित नहीं करते, अपितु उनके मध्य रहकर उनकी समस्याओं को समझते-सुलझाते हैं। अपने कार्य का न उन्हें कोई अभिमान है न गर्व है तो बस देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध। कैसी विडम्बना है कि हमारे फ़िल्म-निर्माता और कथाकार जोधा-अकबर की तथाकथित प्रेमकथा को गौरवान्वित करते नहीं थकते और तब अमल दा के माध्यम से लेखक मुखरित होता है, 'जोधा को किन-किन कठोरताओं-विवशताओं के वशीभूत होकर मुगल शहंशाह को अपना स्वामी स्वीकारना पड़ा होगा पर कैसी विचित्र बात है कि उनके विवाह को प्रेम और साम्प्रदायिक सद्भाव का प्रतीक प्रतिप्रादित किया जा रहा है। क्या कहें इसे इतिहासकारों की महिमा! बिके हुए नाटककारों, फ़िल्मकारों का करिश्मा। हमारे देश के इतिहास के साथ जितनी छेड़छाड़ की गई उतनी शायद ही किसी और देश के इतिहास के साथ।'

लेखक ने अपनी किशोरावस्था में भारत-पाक विभाजन की विभीषिका देखी है, वह भारत के चीन और पाकिस्तान से हुए युद्धों के भी साक्षी रहे हैं, उन्होंने आपातकाल की लंबी कालरात्रि का दंश भी भोगा है, बहुतों की तरह उनके भी स्वतन्त्र भारत को लेकर देखे गए सपने टूटे होंगे और वह सारी पीड़ा इस उपन्यास में अत्यंत सारगर्भित रूप से प्रकट हुई है। वे मात्र अतीत का गौरव गुणगान कर संतुष्ट होने का मिथ्याभिमान नहीं पालते, वे एक कड़वे सत्य से हमारा साक्षात्कार भी करवाते हैं, 'अब गांधार नहीं है हमारे देश में...बामियान भी नहीं है हमारी सीमाओं में। वहाँ हिन्दूकुश पर्वत श्रेणियों में बुद्धानुयायी कलाकारों ने बुद्ध की विशाल प्रतिमाएँ उकेरी थीं। हमारा तक्षशिला, यहाँ तक कि उसके खण्डहर भी विदेशी सत्ता के अधीन हैं आज।... आज एवरेस्ट, कैलास-मानसरोवर एत्रिविष्टप आदि भी नहीं हैं भारतीय मानचित्र में। हम अपने आध्यात्मिक अनुसंधान में इतने डूबे रहे कि दुनियावी ताकतें हमारे अनेक क्षेत्रों पर येन केन प्रकारेण अधिकार जमाती चली गईं और हम असंगठित रहे और कहते रहे —'वसुधेव कुटुंबकम्'। उस बीच हम अपने ऋषियों की वाणी 'वीर भोग्या वसुंधरा' नहीं सुन सके'।

उपन्यास के पात्र 'Think globally, act locally' में विश्वास रखते हैं। उन्होंने स्वामी विवेकानंद, महर्षि अरविंद घोष और जे. कृष्णमूर्ति को मात्र पढ़ा ही नहीं है, उनके विचारों को क्रियान्वित करने की सीमा तक आत्मसात भी किया है। संसार की माया को मानते हुए वे उसकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकारते हैं तभी तो उनके भीतर 'वंदना के इन स्वरों में एक स्वर मेरा मिला लो' का गान निरंतर गूँजता रहता है। स्वतंत्र भारत में माँ भारती मानसिक रूप से आज भी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। इसीलिए वे 'बंदिनी माँ को न भूलो। राग में जब मत्त झूलो' का हरदम स्मरण करते-कराते चलते हैं।

उपन्यास का एक अन्य वैशिष्ट्य उसमें प्रसंगानुरूप प्रयुक्त कविताएँ हैं। जैसे आरम्भ ही में प्लेटफार्म पर अकेले बैठे सुबोध बाबू को अपनी कविता याद आना 'बोधि वृक्ष के पत्ते की तरह विदाई में हिलता एक हाथ। 'वैदिक ऋचाओं का मौन उच्चार' और मन की नावों के खुलते पाल' या कि अमल का सुस्मिता के लिए लिखना, 'कौन हो तुम', 'झाँकती जो स्मृति झरोके से' अमा की रात्रि के झिलमिल सितारों-सी...। जहाँ-जहाँ लेखक का कवि हृदय अभिव्यक्त हुआ है, उपन्यास के कथ्य को बल मिला ही है, एक पाठक को आनन्दानुभूति भी होती है।

आकाश में एक तारा है अरुंधति वह इतना सूक्ष्म है कि उसकी स्थिति बताने के लिए हमें सप्तर्षि का सहारा लेना होता है। 'नीलकंठ का स्वप्न' के बहुतेरे विचार-बिंदु ऐसे हैं जो सीधे-सीधे साहित्य की किसी अन्य विधा में कहे जाते तो संभवतः इतने प्रभावोत्पक नहीं होते जितने वे उपन्यास के माध्यम से हुए हैं। निश्चित ही लेखक अपने मंतव्य में सफल हुए हैं। भाषागत दृष्टि से उपन्यास का एक उल्लेखनीय पक्ष इसमें प्रयुक्त शब्दों का है, जहाँ संज्ञा को क्रिया बनाया गया है। यह प्रयोग अंग्रेजी में तो बहुत किया जाता है 'नीलकंठ का स्वप्न' में प्रयुक्त 'विरमित हुई', 'जन्माएँगी', 'त्यागो' जैसी बहुत-सी क्रियाएँ हैं जिनके उपयोग से भाषा काव्यमय लगती है। मुझे विश्वास है कि इस कृति का हिन्दी साहित्य में निश्चित रूप से स्वागत होगा। उपन्यास का एकमात्र अखरने वाला पक्ष वर्तनी की भूलों का है, जिनसे कहीं तो मूल अर्थ में बाधा आ रही है और कहीं प्रवाह में। नीलकंठ का मुखपृष्ठ शीर्षक के अनुरूप है। रंग-विधान भी सुन्दर है। लेखक जगदीश तोमर का एक प्रबोधपूर्ण कृति हेतु तथा आलोकपर्व के प्रकाशन हेतु हार्दिक अभिनंदन।

दिल की बात-सबके साथ : मन की बात

कृष्ण वीर सिंह सिकरवार*

प्रस्तुत पुस्तक में भारत के सशक्त प्रधानमंत्री माननीय श्री नरेन्द्र दामोदर दास मोदी के पिछले दो वर्ष के दौरान 'मन की बात' के रूप में प्रसारित, 24 प्रसंग (उपाख्यान) संकलित किए गए हैं। नरेन्द्र मोदी के प्रधानमंत्री की शपथ लेने और 'मन की बात' (3 अक्टूबर, 2014) के आरम्भ करने तक उन्होंने भारतीय लोकतंत्र के क्रांतिकारी परिवर्तन की भूमिका रख दी थी। लोकतंत्र का कायाकल्प करने और उसे श्रेष्ठ भारत बनाने का संकल्प तथा भारत को भारत की दृष्टि से देखने के भव्य स्वरूप का उद्घाटन कर दिया था। मोदी जी का यह नये भारत की रचना का भारत स्वप्न था।

नरेन्द्र मोदी के प्रधानमंत्री (प्रधान सेवक) बनने के साथ ही उनके मन में देश के विकास और उसके 125 करोड़ जनसंख्या को प्रत्यक्ष रूप से जोड़ने के लिये कुछ नीतियों, योजनाओं और कार्यों का संकल्प लिया, इसी संकल्प का परिणाम है-'मन की बात' कार्यक्रम का आरम्भ, जो अपनी अभिनवता में भारतीय लोकतंत्र की अपूर्व शक्ति बनता है, जो प्रधानमंत्री को देश से ही नहीं विश्व के विविध अंचलों में फैले रहने वाले भारतीयों तक को सम्बोधित करता है और उन्हें भारत की आत्मा और भारतीय विकास यात्रा का साथी, सहभागी और भोक्ता बनाता है।

'मन की बात' कार्यक्रम की कल्पना और उसके क्रियान्वयन के कुछ तथ्यों से पाठकों को अवगत कराया जाना आवश्यक है, जिससे पाठक जान सकें कि इतिहास में बड़ी घटनाएँ कैसे जन्म लेती हैं। इस ऐतिहासिक जानकारी को पुस्तक के सम्पादक डॉ. कमल किशोर गोयनका इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि 'नरेन्द्र मोदी के प्रधानमंत्री

* कृष्ण वीर सिंह सिकरवार, आवास क्रमांक एच-3, राजीव गाँधी प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, एयरपोर्ट, वाइपास रोड, गाँधी नगर, भोपाल-462033 (म.प्र.) मो. नं. 9826583363.

** पुस्तक का नाम-मन की बात : राष्ट्र-धर्म की नव अवधारणा, सम्पादक डॉ. कमल किशोर गोयनका, प्रकाशक प्रवीण प्रकाशन, 4760-61, द्वितीय तल, 23, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण 2018, मूल्य-795/-रु. (हार्डबाउण्ड संस्करण), पृष्ठ संख्या-322

बनने के साथ ही जनता के साथ सीधे संवाद करने तथा देश की स्थिति एवं विकास की दिशाओं पर सम्पर्क करने का भाव उदय हुआ और उन्होंने 6 सितम्बर, 2014 को रेडियो के द्वारा जनता से जुड़ने के लिये पूरे देश से कुछ सुझाव माँगे जैसे- इस प्रधानमंत्री-जनता में संवाद का नाम क्या हो, इस संवाद का अन्तराल क्या हो, महीना, सप्ताह अथवा महीने का दूसरा या चौथा रविवार आदि।

इस संवाद का स्वरूप क्या हो तथा इसके विषय क्या हों।' (भूमिका, पृष्ठ : 10) अंत में भारत की जनता द्वारा भेजी गयी जानकारी एवं मोदी जी द्वारा लिये गये निर्णय के द्वारा कार्यक्रम का नाम 'मन की बात' रखा गया तथा इसका प्रथम प्रसारण विजयादशमी के दिन 3 अक्टूबर, 2014 को हुआ तथा यह कार्यक्रम प्रत्येक महीने रविवार को प्रातः 11:00 बजे प्रसारित होना तय किया गया। रेडियो के सभी स्टेशन तथा टेलीविजन के सभी चैनल हिंदी-अंग्रेजी के साथ सभी भारतीय भाषाओं में प्रसारित हुआ, तबसे लेकर आज तक यह कार्यक्रम निरंतर जारी है तथा मोदी जी जो अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकालकर अपने 'मन की बात' अवश्य कहते हैं। इसी 'मन की बात' कार्यक्रम के 24 प्रसंग प्रस्तुत पुस्तक में संकलित किये गये हैं जो 3 अक्टूबर, 2014 (विजयदशमी से आरम्भ) होकर 25 सितम्बर, 2016 तक संकलित है।

'मन की बात' के दो वर्षों के इन 24 उद्‌बोधनों के बाद यह सिलसिला निरंतर चल रहा है और इस पुस्तक के प्रकाशन तक 'मन की बात' का तीसरा वर्ष पूरा हो गया है और कुल 36 एपिसोड जनता के समक्ष आ चुके हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशित होने समय तक के संकलित व्याख्यान इस प्रकार हैं:- वर्ष 2014 में प्रसारित तीन व्याख्यान (3 अक्टूबर, 2 नवम्बर, 14 दिसम्बर, 2014) वर्ष 2015 में बारह व्याख्यान (27 जनवरी, 22 फरवरी, 22 मार्च, 26 अप्रैल, 31 मई, 28 जून, 26 जुलाई, 30 अगस्त, 20 सितम्बर, 25 अक्टूबर, 29 नवम्बर, एवं 27 दिसम्बर, 2015) एवं वर्ष 2016 में नौ व्याख्यान (31 जनवरी, 28 फरवरी, 27 मार्च, 24 अप्रैल, 22 मई, 26 जून, 31 जुलाई, 28 अगस्त, 25 सितम्बर, 2016) आदि संकलित किए गए हैं।

'मन की बात' एक ऐसा दस्तावेज़ है तथा भारत के नवनिर्माण का ऐसा रोडमैप है जो स्वतंत्र भारत में जन्मे व्यक्ति के द्वारा तथा स्वतंत्र भारत में जन्मी पीढ़ियों के द्वारा चुने गये प्रधानमंत्री ने देश के सम्मुख प्रस्तुत किया है। यह कार्यक्रम सिर्फ़ 15-20 मिनट का संवाद नहीं, बल्कि समाज-परिवर्तन का एक नया अवसर है। मन की बात का राष्ट्र-दर्शन एवं देशभक्ति लोकमंगल पर आधारित है, जिसमें अमंगल का हरण भी जुड़ा हुआ है-'मंगल भवन अमंगल हारी।'

मेरे विचार में 'मन की बात' की यही सार्थकता है, यही उसकी उपयोगिता है, यही लोकतंत्र की शक्ति है, यही भारत की एकता एवं श्रेष्ठता का संजीवनी मंत्र है और यही भारत को विश्वमंच में एक शांतिप्रिय किन्तु शक्तिशाली एवं समृद्ध देश के रूप में स्थापित करने का राजसूय यज्ञ है।

रिलिजस डेमोग्राफी ऑफ इण्डिया

डॉ. लक्ष्मीनारायण मित्तल**

सन्दर्भित पुस्तक की भूमिका लिखते हुए लाल कृष्ण आडवानी, तत्कालीन उप-प्रधानमन्त्री तथा संघीय शासन के गृहमन्त्री कहते हैं कि जनसाँख्यिकी शास्त्र हमारी भवितव्यता है। आडवानी जी का मानना है कि जनसंख्या की घटत या बढ़त अथवा किसी जनसंख्या समूह में समुदायों या सम्प्रदायों की संख्या में बदलाव उस राष्ट्र के निर्माण या विघटन का कारण हो सकते हैं। यहाँ तक कि सभ्यताओं के विकल्प भी बदल सकते हैं। जनसाँख्यिकी के बदलाव देश-समाज की आर्थिक और सामाजिक संरचना में प्रभावी बदलावों के कारण हो सकते हैं।

ईसवी सम्वत् की शुरुआत से लगभग 1850 तक चीन और भारतीय उपमहाद्वीप विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या को समाए हुए थे। सन् 1500 तक भारतीयों की संख्या चीनियों की अपेक्षा अधिक थी। मानव इतिहास में इस्लाम और ईसाइयत चीन और भारत की तुलना में अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। सनातन भारत के सन्दर्भ में एक मुख्य बात यह है कि यहाँ प्रति हेक्टेयर उपजाऊ भूमि पर लोगों का दबाव विश्व के अनेक विकसित देशों की तुलना में आज भी कम है। सन् 1950 में विश्व में प्रति हेक्टेयर उपजाऊ भूमि पर 1.9 लोगों की उपस्थिति है, जबकि 1990 में यह बढ़कर 4 हो गई है। यूरोप में यह आँकड़ा क्रमशः 4.4 (1950) से बढ़कर 5.9 (1990) है जबकि भारत में 1950 में यह आँकड़ा 2.2 व्यक्ति था, जो 1990 में 5.1 हो गया है। चीन में यह आँकड़ा क्रमशः 6.00 (1950) से बढ़कर 12.2 (1990) हो गया है। जापान में यह संख्या 20.5 (1950) से बढ़कर 30.2 (1990) व्यक्ति प्रति हेक्टेयर उपजाऊ भूमि है।

---

* रिलिजस डेमोग्राफी ऑफ इण्डिय, ए.पी. जोशी, एम.डी. श्रीनिवास और जे.के. बजाज सैंटर फार पॉलिसी स्टडीज, चैन्नई, 2003

डॉ. लक्ष्मीनारायण मित्तल, एच-883, ओल्ड हाउसिंग बोर्ड कोलोनी, मौरेना 476001 (म.प्र.)

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय उपमहाद्वीप में मौसम की अनुकूलता और जल की उपलब्धता के कारण यहाँ की भूमि ज्यादा उपजाऊ है और वर्ष में दो फसल लेने का तो आम चलन है। अतः आडवानी का यह कथन कि जनसंख्या का सम्बन्ध आर्थिक उन्नति से होता है, पाश्चात्य सोच का परिणाम है। हम भारतवर्ष में पिछले 200 वर्षों में अँग्रेजों द्वारा थोपी गई मान्यताओं और व्यवस्थाओं को श्रेष्ठ मानकर उसी अनुरूप सोचने-समझने लगे हैं। अन्यथा गैर-माल्थसीय सिद्धान्तों का अपना एक सम्पूर्ण शास्त्र है।

प्रस्तुत पुस्तक का सबसे अधिक चौंकानेवाला विश्लेषण है कि अगले पचास वर्षों में भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों और विदेशी धर्मों—मुख्यतः इस्लाम और ईसाइयत—को मानने वालों की संख्या लगभग बराबर-बराबर हो जाएगी। पुस्तक में यह तो नहीं लिखा गया कि अब से सौ साल बाद भारतीय धर्मवाले इस देश में अल्पसंख्यक हो जाएँगे, परन्तु पिछले सौ वर्षों के आँकड़ों के विश्लेषण से यह बात तर्कसंगत लगती है। पुस्तक में आँकड़ों द्वारा बतलाया गया है कि पिछले 110 वर्षों में भारतीय उपज के धर्मावलम्बियों के प्रतिशत में 11 प्रतिशत की गिरावट आई है। सन् 1881 में भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों का प्रतिशत 79.32 था, जो सन् 1991 की जनसंख्या के आँकड़ों के अनुसार 68.03 रह गया है। इसके विपरीत मुगल सल्तनत में अकबर के समय में इस्लामी हुकूमत में भारत में मुसलमान कुल आबादी के लगभग एक बटा छह थे। जो हिस्सा 1947 में पाकिस्तान बना (आज का बांग्लादेश मिलाकर) वहाँ सन् 1901 से 1951 तक मुस्लिम जनसंख्या में 4 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई थी यानी यह जनसंख्या 1901 में 15.93 प्रतिशत थी, जो सन् 1951 में 19.69 प्रतिशत हो गई । आज जो बाँग्लादेश है, वहाँ भारतीय धर्म के मूलों का प्रतिशत 1901 में 33. 93 था, जो सन् 1941 में घटकर 29.61 प्रतिशत रह गया था और 1951 में और भी घटकर 22.89 प्रतिशत रह गया था। बांग्लादेश बनने के बाद उस क्षेत्र में हिन्दू धर्मावलम्बियों का प्रतिशत सन् 1951 में 11.37 प्रतिशत था, जो 1991 में लगभग 5. 50 प्रतिशत रह गया है।

पुस्तक में आँकड़ों द्वारा बतलाया गया है कि भारत में व्यवस्थित रूप से हुए पहले सवेक्षण में सन् 1881 में कुल जनसंख्या का 79 प्रतिशत भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों का था। इसमें हिन्दू, सिख, जैन, बौद्ध और आदिमजाति के धर्मावलम्बी शामिल हैं। शेष 21 प्रतिशत में मुसलमान, ईसाई पारसी और यहूदी आते हैं। कुल 79 प्रतिशत में 95 प्रतिशत हिन्दू थे, जबकि 21 प्रतिशत में 96 प्रतिशत मुसलमान थे। पुस्तक में आँकड़ों द्वारा सिद्ध किया गया है कि 1881 से 1941 तक के साठ वर्षों में गैर भारतीय धर्मावलम्बियों की संख्या में लगभग 6 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है यानी 20.72 प्रतिशत से बढ़कर यह संख्या 26.22 प्रतिशत हो गई है। इस बढ़ोतरी में इस साठ सालों के दौरान मुस्लिम मतावलम्बियों की संख्या 19.97 प्रतिशत से बढ़कर 24.

28 प्रतिशत और ईसाइयों की संख्या 0.71 प्रतिशत बढ़कर 1.91 प्रतिशत हो गई, जबकि इसी साठ साल की अवधि में भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों की संख्या में 5 प्रतिशत की गिरावट आई यानी 1881 में 78.96 प्रतिशत से घटकर सन् 1941 में 73. 67 प्रतिशत रह गई। सन् 1951 से सन् 1991 तक जहाँ भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों के प्रतिशत में लगातार गिरावट आ रही है वहाँ मुस्लिम आबादी के प्रतिशत में लगातार बढ़ोतरी हो रही है। सन् 1951 में कुल जनसंख्या का 87.33 प्रतिशत भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों का था, जबकि मुसलमानों का 10.43 प्रतिशत और ईसाइयों का 2.33 प्रतिशत था। यही आँकड़ा सन् 1991 में क्रमशः 85.08 प्रतिशत, 12.59 और 2.32 प्रतिशत है। सन् 2001 के आँकड़ों का धर्मानुसार विश्लेषण अभी उपलब्ध नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से 20वीं शताब्दी के मध्य तक के सौ साल गैर-यूरोपीय जनसंख्या के लिए काफी उथल-पुथल के हैं। इस अवधि में यूरोपीय मूल की जनसंख्या में लगभग 10 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई, जबकि गैर-यूरोपीय मूल की जनसंख्या में लगभग इतने ही प्रतिशत की गिरावट आई है। सन् 1930 तक विश्व की कुल जनसंख्या का 40 प्रतिशत तक यूरोपियों का हिस्सा था। यह भी सही है कि एशिया और अफ्रीका के देशों को बीसवीं शताब्दी के मध्य तक मिली स्वाधीनता के कारण उनकी जनसंख्या में अपेक्षित बढ़ोतरी हुई। सन् 1950 में भारतीयों की कुल संख्या विश्व का 16 प्रतिशत थी, जो सन् 2001 में लगभग 20 प्रतिशत हो गया है। तथापि यह सत्य है कि 19वीं शताब्दी के मध्य तक विश्व की कुल जनसंख्या में भारतीयों का काफी अधिक प्रतिशत था, जबकि 19वीं शताब्दी के मध्य से 20वीं शताब्दी के मध्य तक के दो सौ सालों में यूरोपीयों की जनसंख्या में विश्वभर में काफी बढ़ोतरी हुई है।

भारत के कुल नक्शे को देखे तो पाएँगे कि उत्तर में जम्मू और कश्मीर, पश्चिम में गोवा और केरल, द्वीप समूहों में लक्षदीप और निकोबार और पूर्वोत्तर के राज्यों में भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों की उपस्थिति अल्पसंख्यकों की है। सन् 1921 की जनगणना के अनुसार अविभाजित पंजाब में 51 प्रतिशत मुसलमान थे। सन् 1961 के आँकड़ों के अनुसार विभाजित पंजाब में 64 प्रतिशत हिन्दू हैं और 33 प्रतिशत सिख। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि 700 वर्षों पूर्व तक पूरा कश्मीर हिन्दू था और कुछ 1500 वर्षों तक अफगानिस्तान, तुर्की, बलूचिस्तान, फ्रण्टियर प्रदेश, पश्चिमी पंजाब, पूर्वी बंगाल और दक्षिण एशिया का बड़ा हिस्सा वैदिक हिन्दू था।

सन् 1951 से 1991 तक के चालीस वर्षों में यूरोपीय जनसंख्या के प्रतिशत में 0.70 प्रतिशत की प्रतिशत बढ़ोतरी दिखाई पड़ती है, जबकि इसी अवधि में गैर-यूरोपीय जनसंख्या (एशिया और अफ्रीका में) के प्रतिशत में बढ़ोतरी 2.61 प्रतिशत प्रतिवर्ष दिखलाई पड़ती है, जबकि 1850 से 1933 तक के 83 वर्षों में गैर-यूरोपीय एशियाई और अफ्रीकी जनसंख्या में यह बढ़ोतरी मात्र 0.45 प्रतिशत थी। लगता है कि शोषक समाज ने इस अवधि में शोषितों की जनसंख्या को मानो जबरन रोक रखा हो।

दक्षिण एशिया में यदि पिछले 90 वर्षों का धार्मिक ढाँचा देखा जाए तो सन् 1900 से 1990 तक ईसाइयों की जनसंख्या प्रतिशत में 1.07 से बढ़ोतरी होकर 3.09 प्रतिशत हो गई, मुस्लिम धर्मावलम्बियों में यह प्रतिशत 1900 में 24.48 प्रतिशत था। तो सन् 1990 में 27.88 प्रतिशत हो गया, जबकि देशज धर्मावलम्बियों (मुख्यतः भारत के) की संख्या में गिरावट आकर 74.45 प्रतिशत से घटकर 69.03 प्रतिशत रह गई। दक्षिण-पूर्व एशिया में भी यही रुख दिखलाई पड़ता है। जहाँ 1900 में मुसलमानों का प्रतिशत 21.71 था, जो 1990 में बढ़कर 26.89 प्रतिशत हो गया, जबकि ईसाइयों का प्रतिशत 1900 में 9.81 प्रतिशत था जो 1990 में 18.42 प्रतिशत हो गया जबकि इसके विपरीत देशज धर्मावलम्बियों का प्रतिशत 1900 में 68.47 प्रतिशत था, जो 1990 में घटकर 55.69 प्रतिशत रह गया। यदि पूरे एशिया को देखें तो 1900 और 1990 में ईसाइयों का प्रतिशत 2.02 और 4.84 मुसलमानों का 16.33 और 21.25 और देशज धर्मावलम्बियों का प्रतिशत 81.66 और 73.91 है। यदि उत्तरी अफ्रीका में देंखे तो 1900 और 1990 में ये आँकड़े कुछ इस प्रकार हैं। ईसाई क्रमशः 5.32 प्रतिशत और 4.67 प्रतिशत मुसलमान 81.83 प्रतिशत और 89.38 प्रतिशत और देशज धर्मावलम्बियों का प्रतिशत 12.84 और 7.95 है। पूर्वी अफ्रीका में तो ईसाइयत और इस्लाम की तुलना में 1900 और 1890 के बीच देशज धर्मावलम्बियों का प्रतिशत 72.22 प्रतिशत से घटकर मात्र 19.30 प्रतिशत रह गया। इसी प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में भी यह आँकड़े 1900 और 1990 के बीच प्रतिशत 62.39 प्रतिशत से घटकर 16. 29 प्रतिशत रह गए, जबकि ईसाइयत का प्रतिशत 37.06 से बढ़कर 81.65 प्रतिशत हो गया। इस्लाम धर्मावलम्बियों का प्रतिशत दक्षिण अफ्रीका में 1900 में 0.54 प्रतिशत था, जो 1990 में बढ़कर 2.07 प्रतिशत हो गया।

इस पुस्तक में जो अनुमान लगाया गया है, उसके अनुमान सन् 2071 तक भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों की संख्या भारत में लगभग 45 प्रतिशत रह जाएगी। इन आँकड़ों द्वारा अनुमान लगाया गया है कि सन् 2056 तक दोनों वर्गों की संख्या समान हो जाएगी जो धीरे-धीरे इसके बाद आनेवाले वर्षों में भारतीय मूल के धर्मावलम्बियों में घटती जाएगी और अन्य विदेशी मूल के धर्मावलम्बियों की बढ़ती जाएगी।

सन् 1901-2071 के बीच भारतीय और ग़ैर भारतीय धर्मावलम्बियों का रुझान :

इस पुस्तक की भूमिका में आडवानी ने जिस 'द इकोनोमिस्ट' के अंक (अगस्त, 24-30, 2002) का जिक्र किया है वह लेख भी जनसांख्यिकी के आँकड़े का चमत्कार है। सन् 1950 में उस लेख के अनुसार अमरीका की जनसंख्या पश्चिमी यूरोप में सन् 1950 से 30.4 करोड़ और अमरीका में ठीक इससे आधी 15.2 करोड़ थी।

(यू.एस. सेन्सस ब्यूरो ने 'पश्चिमी यूरोप' से यूरोप के उस अंश को माना है, जो शीतयुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट नहीं रहा।) परन्तु सन् 1980 के आते-आते स्थिति में बदलाव आया और सन् 2000 तक अमरीका की जन्म-दर में तेजी से इज़ाफा होना शुरू हो गया, जबकि यूरोप में जन्म-दर में कमी आती गई। यह अनुमान है कि सन् 2040 तक अमरीका की जनसंख्या यूरोप से अधिक हो जाएगी। यूरोप के अन्य सम्पन्न देशों में भी जन्म-दर में गिरावट आती जा रही है, स्पेन, ग्रीक और इटली में जन्म-दर गिरकर 1.1 और 1.3 के बीच में है जबकि जनसंख्या की स्थिति को बराबर बनाए रखने के लिए जन सांख्यिकीविदों ने रिप्लेसमेण्ट लैविल के लिए यह जन्म-दर 2.1 आँकी हुई है। इसके अलावा भी यह उल्लेखनीय है कि 1985 तक 14 वर्ष से कम आयुवालों की जनसंख्या का प्रतिशत यूरोप और अमरीका में लगभग समान था, परन्तु अब यूरोप में बूढ़ों का प्रतिशत बढ़ रहा है और अमरीका में जवानों का प्रतिशत बढ़ रहा है। इसके साथ ही आप्रवजन के कारण अमरिका में स्वेतोमरी की जनसंख्या का वृत्त कुछ नाशपाती जैसे आकार का है, परन्तु अश्वेतों की जनसंख्या का वृत्त पिरामिड जैसा है यानी बच्चों की संख्या ज्यादा और अधिक आयु-वर्ग की अपेक्षाकृत कम। इसका प्रभाव राजनीति पर पड़ेगा कि अमरीका आनेवाले वर्षों में काले युवकों से भर जाएगा।

'द पीपुल ऑफ इण्डिया' पुस्तक के अनुसार देश में कुल समुदायों का 76.35 प्रतिशत हिन्दू, 12.60 प्रतिशत इस्लाम और 7.31 प्रतिशत ईसाई धर्मावलम्बी हैं।

भारत में पिछले तीस-चालीस वर्षों में जनसांख्यिकी एक विषय के रूप में भारतीय विश्वविद्यालयों में उभरा है। अतः अनेक जनसांख्यिकी विशेषज्ञों का मानना है कि इस पुस्तक के तीनों लेखक शास्त्रीय दृष्टि से जनसांख्यिकी विशेषज्ञ नहीं हैं और उनके विश्लेषणों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यह दुर्भाग्य है कि भारत में शास्त्रीय विवेचन विषयों में बँटकर रह गया है और सम्बन्धित विषय में डिग्री और अध्यापकी ही प्रामाणिकता की मोहर बन गई है। अब जो आँकड़े प्रस्तुत किए गए हैं, वे तो सही ही है। जो अनुमान भविष्य के लिए लगाए गए हैं, उन पर बहस हो सकती है तो आशीष बोस यदि यह मानते हैं कि भारत में मुसलमानों को बहुसंख्यक होने में 380 साल लगेंगे और जोशी, श्रीनिवास और बजाज यह मानते हैं कि इसमें मात्र 65 साल लगेंगे, तो यह इस आँकड़ों में फँसकर रह जाती है और उसके सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष पर नजर नहीं जाती।

विश्व-स्तर पर समाज संरचना के ढाँचे में मूल्य, विश्वास, रीतिरिवाज, आचार-व्यवहार, निष्ठा, समुदायगत ढाँचा सभी आते हैं। सभ्यता एक ऐसा शब्द है जो एक विशिष्ट पर व्यापक फलक पर एक जातीय पहचान की अभिव्यक्ति करता है। इस दृष्टि से भारतीय उपमहाद्वीप की सभ्यता यूरोपीय (अमरीकी सहित) सभ्यता से

भिन्न है। एक व्यापक सभ्यता के दायरे में अनेक वृत्त हो सकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण बनावट में वे एक सर्वसमावेशी संरचना को दर्शाते हैं। इस दृष्टि से बांग्लादेश, भारत, पाकिस्तान, नेपाल, बर्मा, अफगानिस्तान, भूटान, मालदीव और श्रीलंका एक ही साभ्यतिक वृत्त के अन्तर्गत आते हैं। इस व्यापक वृत्त के अन्तर्गत वे अपनी अपनी विलक्षणताओं के कारण अपनी अलग स्मृति भी बनाए हुए हैं। परन्तु इसमें सम्प्रदाय मात्र एक गिनती है भाषा, भूषा और अन्य अनेक तत्त्वों का भी अपना महत्त्व है और यह धर्म सम्प्रदाय से कम नहीं है।

नृतत्त्वविज्ञान की अखिल भारतीय संस्था ने 'पीपुल ऑफ इण्डिया' नाम से 70-72 खण्डों में भारतीय समुदायों का अध्ययन किया है और लगभग 4635 समुदायों के विवरण प्रस्तुत किए हैं। इसी में उल्लेख है कि अनेक मुस्लिम समुदाय मांसाहारी होने पर भी गौ-मांस से गुरेज़ करते हैं। इसी के अध्ययन से यह पुष्टि होती है कि धर्मांतरण के बाद भी वे समुदाय धर्मांतरण से पूर्व की अपनी जातीय पहचान को बनाए रखे हैं, अतः ऐसे ईसाई समुदाय हैं, जहाँ मुण्डन होता है या ईसाई महिलाएँ मंगलसूत्र पहनती हैं या कुछ मुसलमान समुदाय संक्रान्ति मनाते हैं अथवा काँवड़ यात्रा में भाग लेते हैं या अपने ग्राम देवता को भी मानते हैं या मुस्लिम महिलाएँ भी सिन्दूर लगाती हैं। इसी प्रकार अनेक मुसलमान और ईसाई समुदायों में जन्म और मृत्यु पर सूतक लगता है।

कुल प्रश्न जीवन-दृष्टि का है। जनसंख्या विस्फोट और इसके बदलते आयामों का विश्लेषण उस देश—समाज की मान्यताओं और व्यवस्थाओं की दृष्टि से किया जाना चाहिए जो उस समाज की जीवन-दृष्टि से उपजी हैं। दुर्भाग्य से इस देश के नीति निर्धारक बहुप्रचलित मिथकों और आधुनिकता के प्रभाव से ग्रसित हैं। देशज व्यवस्थाओं से कैसे समाज के परस्पर समुदायों के बीच संवाद होता है, अथवा व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर या फिर नितान्त निजी जीवन में हमारे कार्य-व्यवहार किन मान्यताओं से बनते हैं, इनकी समझ हुए बिना केवल आँकड़ों के मायाजाल में हम उलझ जाएँगे और गलत निर्णयों पर पहुँचेंगे।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँः

पत्रिकाएँः

प्रवासी जगत, प्रवासी जगत का साहित्य, साहित्यकार व संस्कृति केंद्रित पत्रिका, खंड-1 अंक-3 अप्रैल-जून, 2018 एवं खंड-1 अंक-4, जुलाई-सितंबर, 2018; विश्व हिंदी सम्मेलन विशेषांक, संपादकः डॉ. गंगाधर वानोडे, प्रकाशकः विभागाध्यक्ष, अंतरराष्ट्रीय हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, आगरा-282005; पृष्ठः 144, मूल्यः 40/- रुपये।

भावक, हिन्दी साहित्यः सृजन एवं चिंतन के विविध आयामों पर केंद्रित, खंड-1 अंक-1, अक्टूबर-दिसंबर, 2018; संपादकः डॉ. ज्योत्सना रधुवंशी, प्रकाशकः अध्यापक शिक्षा विभाग, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, आगरा-282005; पृष्ठः 184, मूल्यः 40/- रुपये।

शैक्षिक उन्मेष, शिक्षा जगत की शोध एवं विचार केंद्रित पत्रिका, खंड-1 अंक-3, अप्रैल-जून, 2018; संपादकः प्रो. बीना शर्मा, प्रकाशकः विभागाध्यक्ष, अध्यापक शिक्षा विभाग द्वारा सचिव, हिंदी शिक्षण विभाग, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठः 156, मूल्यः 40/- रुपये।

के.हि.स. गवेषणा, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान तथा साहित्य-चिंतन की शोध पत्रिका, अंक-112, अप्रैल-जून, 2018 एवं अंक-113, जुलाई-सितंबर, 2018; संपादकः प्रो. महेन्द्र सिंह राणा, प्रकाशकः विभागाध्यक्ष, अनुसंधान एवं भाषा विकास विभाग द्वारा सचिव, केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल, आगरा; पृष्ठः 196 एवं पृष्ठः 172, मूल्यः 40/- रुपये।

केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्कः हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोनः 0562-2530684,
वेवसाइटः www.indisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र : दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमूख उद्देश्य

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन। ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवतापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन। ■ अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण। ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उेश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हो और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थाओं को संबद्धता प्रदान करना। ■ समय-समय पर विषयानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप) छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य

■ शिक्षणपरक कार्यक्रमः (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवद्धनात्मक कार्यक्रम, (vi) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जंनसचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

■ अनुसंधानपरक कार्यक्रमः (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेती अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयक्त अनुसंधान,

(iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रोद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरा द्वितीय भाषा एवं विदशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

■ शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकासः (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (iv) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशनः हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि के संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथाअध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालयः भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयः हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँः ■ भारतीय सांस्क तिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केन्द्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत। ■ अफगानिस्तान के नानहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ। ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एम.ए., यू.के, मॉरिशस, बेल्जियम, रूस आदि) के साथ शैक्षिणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध जारी। ■ हिंदी के बहुआयामी संबर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोश परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना, लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

- डॉ. कमल किशोर गोयनका
उपाध्यक्ष, केन्द्रीय हिंदी शिक्षण मंडल
ई-मेलः kkgoyanka@gmail.com

- प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय
निदेशक
ई-मेलः nkpandey65@gmail.com
directorofkhs@yahoo.co.in